श्रीरामकृष्ण-विवेकानंद भावधारा की एकमात्र हिंदी मासिकी

विवेक शिखा

वर्ष–१० मार्च–१९९१ अंक–३

विवेक शिखा के आजीवन सदस्य

७०. श्रीमती उषा श्रीकांत रेगे—दादर, बम्बई
७१. कुमारी इन्दु जोशी—उत्तरकाशी (उ० प्र०)
७२. श्री के० अनूप—रोइंग (अरुणाचल प्रदेश)
७३. गंगा सिंह महाविद्यालय—छपरा (बिहार)
७४. डॉ० उषा वर्मा - छपरा (बिहार)
७५. श्री विजय कु०प्रभाकर राव शंखपाल (महाराष्ट्र)
७६. श्री विजय कुमार सिंह, शुमरीतिलैया (बिहार)
७७. श्री रघुनन्दन सेठी, कोटा, (राजस्थान)
७८. श्री भृगुनाथ प्रधान, जमशेदपुर (बिहार)
७९. डॉ० अमरेन्द्र कुमार सिंह, छपरा (बिहार)
८०. श्री रविशंकर पारीक अलित, जयपुर (राजस्थान)
८१. श्री सनत कुमार दुबे—सिवनी मालवा (म०प्र०)
८२. डॉ. आशीष कु. बनर्जी-रामकृष्ण मिशन, वाराणसी
८३. श्री चन्द्र मोहन—टूंडला (उ. प्र.)
८४. श्री बी. एल गुप्ता—मानवार (म. प्र.)
८५. डॉ. टी. जे. हेमनानी - नागपुर (महाराष्ट्र)
८६. डॉ. एस. एम. सिंह—इलाहाबाद
८७. श्री श्याम सुन्दर चमरिया—बम्बई
८८. श्री जयप्रकाश गुप्ता—परौना, सारण (बिहार)
८९. श्री अमरेश कलसा—जयपुर, (राजस्थान)
९०. श्री प्रफुल्ल सुंबारे—पुणे (महाराष्ट्र)
९१. श्रीमती कमला घोष—इलाहाबाद
९२. श्री एस. डी. शर्मा—अहमदाबाद
९३. श्रीमती प्रभा भार्गव—बीकानेर (राजस्थान)
९४. श्री अशिकांत मिश्र—नारायणपुर (मध्य प्रदेश)
९५. श्री के० सी० सर्राफ—बम्बई
९६. श्री ए० के० चटर्जी, आइ. ए. एस.—पटना
९७. सचिव, थियोसोफिकल लॉज—छपरा (बिहार)
९८. श्री सुभाष वासुदेव—तुमडिंग (आसाम)
९९. श्री दिलीप देसाई, बरोदा (गुजरात)
१००. श्रीरामकृष्ण आश्रम—इन्दौर (म० प्र०)
१०१. सारदापीठ विद्यालय - इन्दौर (म० प्र०)
१०२. डॉ० ओमप्रकाश वर्मा - रायपुर (म० प्र०)
१०३. विवेकानन्द विद्यापीठ—भोपाल (म० प्र०)
१०४. रामकृष्ण मठ—जामतारा (बिहार)

इस अंक में

		पृष्ठ
१. श्रीरामकृष्ण ने कहा है		१
२. श्रीरामचन्द्राष्टकम्	महर्षि व्यास	२
३. तुलसी के राम	स्वामी निखिलात्मानन्द	३
४. युगावतार श्रीरामकृष्ण	श्री जी० एन० राय चौधरी	७
५. विवेकानन्द आविर्भाव—उत्सव एवं युवा समाज	स्वामी प्रभानन्द	१३
६. श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्	स्वामी ब्रह्मेशानन्द	१९
७. अहिंसा के अग्रदूत : भगवान महावीर	आचार्य विद्यानन्द	२३
८. एक अविस्मरणीय घटना	डॉ० नन्दिता भार्गव	२६
९. स्वामी अद्भुतानन्द की जीवन कथा	चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय	३०

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा को एकमात्र हिन्दी मासिक

वर्ष — १० | १९९१—मार्च | अंक — ३

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

संपादक

डॉ० केदारनाथ लाभ

संपादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य	३०० रु०
वार्षिक	२५ रु०
रजिस्टर्ड डाक से	४० रु०
एक प्रति	३ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग - राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

ईश्वर के भीतर विद्या-अविद्या दोनों हैं। विद्या माया मनुष्य को ईश्वर की ओर ले जाती है, अविद्या -- माया उसे ईश्वर से दूर ले जाती है। ज्ञान, भक्ति, दया, वैराग्य—यह सब विद्या का खेल है। इनका सहारा लेने पर ईश्वर तक पहुँचा जा सकता है।

(२)

माता, पिता, भाई, बहन, स्त्री, पुत्र आदि स्वजन-कुटुम्बियों के प्रति जो प्रेम-आकर्षण होता है, वह माया है। और सभी जीवों के प्रति समान रूप से जो प्रेम-भाव उठता है, वह दया है।

(३)

संसार में धन की जरूरत है अवश्य, परन्तु उसके लिए अधिक चिन्ता न करना। यदृच्छालाभ—यही अच्छा है। संचय के लिए इतना न सोचा करो। जो लोग उन्हें (ईश्वर को) मन और अपने प्राण सौंप देते हैं, जो उनके भक्त हैं - शरणागत हैं, वे लोग यह सब इतना नहीं सोचते। जहाँ आय है वहाँ व्यय भी है। एक ओर से रुपया आता है, दूसरी ओर से खर्च हो जाता है। इसका नाम है यदृच्छालाभ।

(४)

बाँस की आग जल्दी बुझ जाती है; उसे फूँक-फूँककर प्रज्वलित रखना पड़ता है। मन में उच्च भाव जागृत रखने के लिए निरन्तर साधना करनी पड़ती है।

(५)

जिसने ईश्वर की शरण ली है उसका कदम कभी नहीं चूकता।

श्रीरामचन्द्राष्टकम्

—श्री महर्षि व्यास देव

भजे विशेष सुन्दरं समस्त पाप खण्डनम् ।
स्वभक्तचित्तरंजनं सदैव राममद्वयम् ॥ १

जटाकलापशोभितं समस्तपापनाशकम् ।
स्वभक्तभीतिभंजनं भजे ह राममद्वयम् ॥ २

निजस्वरूप बोधकं कृपाकरं भवापहम् ।
समं शिवं निरंजनं भजे ह राममद्वयम् ॥ २

सदाप्रपंचकल्पितं ह्य् नामरूपवास्तवम् ।
निराकृतिं निरामयं भजे ह राममद्वयम् ॥ ३

प्रपंचहीन निर्मलं विकल्पहं निरामयं ।
चिदेकरूपसन्ततं भजे ह राममद्वयम् ॥ ४

भवाब्धिपोतरूपकं ह्य् शेषदेहकल्पितम् ।
गुणाकरं कृपाकरं भजे ह राममद्वयम् ॥ ६

महर्षिवाक्यबोधकैर्विराजमानवाक्पदैः ।
सरोजजन्मसेवितं भजे ह राममद्वयम् ॥ ७

शिवप्रदं सुखप्रदं भवच्छिदं भ्रमापहम् ।
विराजमानदैशिकं भजे ह राममद्वयम् ॥ ८

रामाष्टकं पठति यः सुकरं सुपुण्यं
व्यासेन भासितमिदं शृणुते मनुष्यः ।
विद्यां श्रियं विपुल सौख्यमनन्तकीर्तिं
संप्राप्य देहविलये लभते च मोक्षम् ॥

२४ मार्च, रामनवमी के अवसर पर :

तुलसी के राम

स्वामी निखिलात्मानन्द
अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद

भगवान राम का चरित्र अत्यन्त पुरातन है। उसको केन्द्र बनाकर अगणित काव्यों की रचना की गयी है। महर्षि वाल्मीकि उनके चरित के आदि रचयिता माने गये हैं। गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित राम चरित मानस भी ४०० वर्षों से भी अधिक पुराना है। वाल्मीकि और गोस्वामीजी द्वारा रचित श्रीराम के चरित्र में एक विशेष अन्तर परिलक्षित होता है। जहाँ वाल्मीकि ने श्रीराम के चरित्र की मानवीय रूप से अवतारणा की है वहाँ गोस्वामीजी श्रीराम का चरित्र चित्रण ईश्वर के रूप में करते हैं। तुलसी के राम साक्षात् परब्रह्म हैं जो मानव रूप में अवतरित हो लीला करते हैं। गोस्वामीजी उनके प्रत्येक कार्य के पीछे ईश्वरत्व की अनुभूति करते हैं। वाल्मीकि द्वारा रचित राम चरित में मानवीय गुणों का अधिक समावेश है। इसीलिए प्रायः यह कहा जाता है कि यथार्थ रामायण वाल्मीकिजी की है, गोस्वामीजी द्वारा रचित रामचरितमानस तो कल्पना प्रसूत है। पर गोस्वामीजी उस विचार से सहमत नहीं। उनकी दृष्टि में रामचरित मानस की तो बात क्या, संसार में जितनी भी रामायणें हैं, सभी सत्य हैं। और रामायणें भी कितनी ? वे कहते हैं—रामायन सत कोटि— सौ करोड़ रामायणें हैं। पर इतना कहकर भी उन्हें सन्तुष्टि नहीं होती। इसलिए आगे कह उठते हैं—रामायन सतकोटि अपारा - केवल सौ करोड़ नहीं अगणित रामायणें हैं। और ये सारी की सारी उनकी दृष्टि में सत्य हैं, कोई कल्पना नहीं। मन में सहज प्रश्न जाग उठता है कि सभी रामायणों को सत्य कैसे मानें जबकि उनमें घटनाओं का तारतम्य नहीं है। देश, काल और पात्र भी बदले हुए हैं। उदाहरण के लिए यदि दो रामायणों—रामचरितमानस और अध्यात्म रामायण की घटनाओं को लें तो अन्तर स्पष्ट हो जायगा। रामचरित मानस में भगवान राम की केवट से मुलाकात तब होती है जब वे वनवासी हो चित्रकूट की ओर जा रहे हैं, और अध्यात्म रामायण में दोनों की भेंट तब दर्शायी गयी है जब श्रीराम जनकपुर की ओर प्रस्थान करते हैं। यहाँ देश और काल दोनों ही भिन्न हैं। एक ओर जनकपुर की यात्रा तो दूसरी ओर चित्रकूट की, और दोनों यात्राओं के बीच बारह वर्षों का अन्तराल है। फिर दोनों सत्य कैसे हुए ? गोस्वामीजी इसके समाधान में एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं— जब भगवान राम लंका विजयकर पुष्पक विमान में आरूढ़ हो अयोध्या के निकट पहुँचे तो देखते हैं कि सारे अयोध्यावासी प्रेम विह्वल हो उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। लाखों की भीड़ है और सभी के मन में यही भावना है कि प्रभु विमान से उतर कर यदि मुझसे पहले मिलें तो कितना उत्तम हो। एक बालक सोच रहा है कि प्रभु आकर यदि मुझे अपनी गोद में उठा लें तो कितना अच्छा हो। प्रभु का मित्र सोच रहा है, यदि राघवेन्द्र आकर प्रथम मुझे आलिंगन पाश में बाँध लें तो कितना आनन्द आये। सभी इसी प्रकार सोच रहे हैं। श्रीराम तो अन्तर्यामी हैं, सबके मन की बात जान जाते हैं। वे एक चमत्कार करते हैं। क्या ? गोस्वामीजी ने लिखा—

प्रेमातुर सब लोक निहारी।
कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी॥

अमिट रूप प्रगटे तेहि काला।
जथा जोग मिले सबहि कृपाला॥

उन्होंने अपने अगणित रूप धारण कर लिए और जो जिस भाव से मिलना चाहता था उससे उसी प्रकार मिले। जितने अयोध्यावासी, उतने राम और सभी यही अनुभव करते हैं कि प्रभु प्रथम मुझसे ही मिले। गोस्वामीजी कहते है—अब प्रत्येक व्यक्ति जब भगवान राम से हुई अपनी भेंट का वृतान्त कहेगा तो प्रत्येक के वर्णन में भिन्नता होगी पर प्रत्येक का वृतान्त सत्य है। जैसे एक बालक कहेगा कि जब प्रभु का विमान नीचे उतरा तो मैं विमान के पास ही था। प्रभु ने आकर मुझे अपनी गोद में उठा लिया और प्यार किया। प्रभु का मित्र कहेगा कि मैं तो विमान से बहुत दूर एक वृक्ष के नीचे खड़ा हुआ था। मैंने देखा कि राघवेन्द्र ने हजारों की भीड़ में से आकर मुझे अपने प्रेम पाश में बाँध लिया। गोस्वामीजी का तात्पर्य है कि जब जितने अयोध्यावासी उनकी उतनी रामयणें और प्रत्येक रामायण भिन्न होते हुए भी सत्य हुई कि नहीं? उसी प्रकार प्रभु के चरित्र को लेकर जितनी रामयणें लिखी गयी हैं वे सभी सत्य हैं। अन्तर केवल यह है कि बाल्मीकि जी की रामायण इतिहास परक है जबकि अन्य रामायणें भाव परक।

कई लोग आक्षेप करते हैं कि गोस्वामीजी ने श्रीराम को ईश्वर के रूप में प्रतिपादित करके उन्हें हमसे दूर कर दिया। यदि वे उनका चित्रण मनुष्य के रूप में करते तो हम उनके चरित्र से प्रेरणा प्राप्त कर उनके गुणों को ग्रहण करने में समर्थ होते। पर ईश्वर के रूप में राम जन साधारण की पहुँच के परे हो गये। यह तर्क कोई समीचीन प्रतीत नहीं होता। यदि श्रीराम का चित्रण एक मनुष्य के रूप में किया जाता तो वे इतिहास की गाथा मात्र होते तथा एक देश और काल विशेष के लिए ही आदर्श होते। उनका चरित्र हमारी वर्त्तमान समस्याओं का समाधान करने में समर्थ नहीं हो पाता। पर ईश्वर के रूप में हम आज जब श्रीराम को अपने जीवन में अवतरित कर सकते हैं तथा अपनी समस्याओं का हल उनसे प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिए गोस्वामीजी श्रीराम को अपने जीवन से सतत जुड़ा हुआ पाते हैं। गोस्वामीजी को चित्रकूट बड़ा प्रिय था। वे बारम्बार जाकर वहाँ निवास करते। भक्तों ने उनसे पूछा कि आप चित्रकूट शायद इसलिए इतना अधिक जाते हैं कि वहाँ भगवान राम ने कभी निवास किया था। गोस्वामीजी ने कहा—कैसी बातें करते हो कि भगवान कभी चित्रकूट में थे। अब क्या वे वहाँ नहीं हैं? वे सतत लक्ष्मण और जानकीजी के साथ वहाँ विराजमान हैं—चित्रकूट महँ बसत प्रभु नित सिय लखन समेत। यही नहीं, गोस्वामीजी अपने को भगवान राम के जीवन की लीलाओं के साथ भी युक्त पाते हैं। गीतावली में वे लिखते हैं कि जब भगवान राम के जन्म की वेला आयी तो स्त्रियों ने बधैया गाया। भक्तों ने उनसे पूछा कि आपको कैसे पता चला कि उन्होंने यही गीत गाया, क्योंकि अन्य रामायणों में इसका उल्लेख नहीं है। गोस्वामीजी ने कहा—तहँ तुलसिहु मिलि गायो—अरे! गानेवालों में तो मैं भी सम्मिलित था। उसी प्रकार जब प्रभु होली खेलते हैं तो सबको दान देते हैं। तुलसीदासजी वहाँ भी उपस्थित हो दान प्राप्त करते हैं और कहते हैं—तुलसीदास तहँ भगति दान बर माँगि—मैंने उनसे भक्ति का वरदान माँगा। अब कहाँ भगवान राम का जन्म आज से हजारों वर्ष पूर्व और गोस्वामीजी के जन्म का ५०० वर्ष भी नहीं हुए। फिर कैसे गोस्वामीजी भगवान की लीलाओं में सम्मिलित हो पाये? यह प्रश्न स्वतः ही जागता है। यही भाव की दृष्टि है जहाँ देश और काल की बाधाएँ तिरोहित हो जाती हैं। त्रेतायुग में जब भगवान राम का जन्म हुआ तो गोस्वामीजी वहाँ उपस्थित थे और इस युग में जब गोस्वामीजी का जन्म हुआ तो वे भगवान राम की उपस्थिति का सतत अनुभव करते हैं। इसीलिए

गोस्वामीजी ने श्रीराम का चित्रण ईश्वर के रूप में किया और उन्हें हमारे अत्यन्त निकट ला दिया। मनुष्य के रूप में श्री राम हमसे बहुत दूर होते। पर इसका अर्थ हम यह भी न लें कि गोस्वामीजी श्री राम को ऐतिहासिक पुरुष नहीं मानते और न यह ही कि श्रीराम का चरित्र एक प्रतीक अथवा कल्पना मात्र है। उनकी मान्यता यह है कि श्रीराम भले त्रेतायुग में अवतरित हुए हों पर वे मात्र भूतकाल के व्यक्ति नहीं। आज भी जब भक्त चाहता है वे अवतरित होने के लिए प्रस्तुत हैं।

वाल्मीकि रामायण की तुलना एक मन्दिर से की जा सकती है। रामायण का अर्थ ही है—राम का मन्दिर। पर गोस्वामीजी राम चरित की तुलना गंगा से करते हैं। वे कहते हैं—

पूछेउ रघुपति कथा प्रसंगा।
सकल लोक जनि पावनि गंगा॥

—भगवान राम की कथा समस्त लोकों को पवित्र करनेवाली गंगा के समान है। मन्दिर और गंगा दोनों ही पूज्य तथा पवित्र हैं। पर दोनों में थोड़ा पार्थक्य है। मन्दिर एक देश विशेष में अवस्थित होता है जबकि गंगा हिमालय से उद्भूत हो देश की दूरियों को पार करती हुई सागर में जाकर मिलित होती है। हिमालय से लेकर सागर पर्यन्त कहीं भी उसका सान्निध्य लाभ किया जा सकता है। मन्दिर समय पर खुलता और बन्द होता है। पर गंगा काल के व्यवधान को स्वीकार नहीं करती। उसके द्वार सबके लिए हरक्षण अबाध गति से खुले हुए हैं। मन्दिर में भक्त और भगवान के बीच दूरी बनी रहती है जबकि गंगा में कोई दूरी नहीं। उसमें कोई भी, कभी भी जाकर गोता लगाकर उसके साथ एक हो सकता है। मन्दिर कहता है – पहले स्नान करो, पवित्र होओ तब मेरे पास आओ। गंगा कहती है—तुम जैसे भी हो, मेरे पास चले आओ और गोता लगाकर पवित्र बन जाओ। वाल्मीकिजी द्वारा संस्कृत में रचित रामायण अनुपम कविता रूपी रत्नों से सुशोभित मन्दिर के समान पूज्य तथा शुद्ध है। वाल्मीकि के राम महान्, गम्भीर तथा अलभ्य गुणों से युक्त हैं और हम सहज ही उनसे दूरत्व का अनुभव करते हैं। पर तुलसी के राम गंगा की धारा की भाँति हमारे अत्यन्त निकट हैं। लगता है कि वे हमारे कितने अपने हैं! ये दोनों दृष्टियाँ अपने स्थानों पर महत्त्वपूर्ण हैं पर श्रीराम तुलसी के द्वारा हमारे जीवन के जितने निकट पहुँचाये गये हैं, उतना वाल्मीकि के लिए सम्भव नहीं था। इसीलिए इस उक्ति पर कि 'वाल्मीकि तुलसी भयों'—वाल्मीकि ही तुलसी के रूप में आये, कोई आश्चर्य नहीं होता। तुलसी के रूप में अवतरित हो उन्होंने एक नयी दृष्टि से जन-भाषा में रामकथा का निर्माण कर श्रीराम को सारे जन मानस में उतार दिया।

जब तुलसीदासजी ने रामचरितमानस की रचना हिन्दी में की तो उन्हें बड़ी विरोधिता का सामना करना पड़ा। विरोधियों का तर्क था कि देवभाषा संस्कृत को छोड़ एक ग्राम्यभाषा में राम कथा का लेखन उचित नहीं है। पर गोस्वामी जी इससे विचलित नहीं होते। वे देवभाषा का विरोध नहीं करते और न ही लोकभाषा की श्रेष्ठता का नारा बुलन्द करते हैं। भाषा का प्रश्न उठाये जाने पर वे कहते हैं—

का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिए साँच।
काम जु आवै कामरी का लै करिअ कुमाच॥

—भाषा कोई भी हो चाहे देवभाषा हो अथवा जनता में बोली जाने वाली भाषा हो। सही भाषा वही है जो प्रभु के प्रति सच्चा प्रेम उत्पन्न कर सके। देव भाषा एक कीमती दुशाले के समान है और जनभाषा एक कम्बल के समान। एक साधारण व्यक्ति का जाड़ा यदि कम्बल से मिट जाए तो दुशाले की भला क्या आवश्यकता? उपयोगिता

की दृष्टि से उन्होंने जनभाषा का प्रयोग किया ताकि साधारण व्यक्ति भी रामकथा को हृदयंगम कर सके। पर उन्होंने देवभाषा को तिरस्कृत नहीं किया। उन्होंने जितनी बन्दनाएँ लिखीं सब संस्कृत में। जब उनसे पूछा गया कि कौन सी भाषा श्रेष्ठ है तो उन्होंने कहा—

मनि भाजन मधु पारई पूरन अमी निहारि।
का छाड़िय का संग्रहिअ कहहु बिबेक बिचारि॥

—अगर मणिमय पात्र में शराब हो और मिट्टी के बर्त्तन में अमृत, तो आप क्या लेंगे? विवेक ज्ञान तो यही कहेगा किअमृत युक्त मिट्टी के पात्र को ही ग्रहण करें और शराब से भरे मणिमय पात्र का त्याग करें। भाषा वही श्रेष्ठ है जिसके माध्यम से प्रभु कथा रूपी अमृत की प्राप्ति हो।

गोस्वामीजी की मान्यता है कि श्रीराम का अवतार केवल रावण, कुम्भकर्ण आदि कतिपय के नाश के लिए नहीं हुआ था। यदि रावण का नाश ही उनके अवतार का प्रयोजन होता तो रावण के समकालीन ऐसे कई व्यक्ति थे जिन्होंने रावण को परास्त किया था और वे अनायास ही रावण का नाश कर सकते थे। बालि और सहस्रार्जुन विशेषकर ऐसे दो व्यक्ति थे जिन्होंने श्रीराम के अवतरण के पूर्व ही रावण को हराया था। बालि ने न केवल उसे हराया ही था वरन् वह छः महीने तक उसे बगल में दबाकर सारे संसार में घूमता रहा था। वह चाहता तो रावण को मारना उसके लिए कोई बड़ी बात नहीं थी। सहस्रार्जुन ने भी नर्मदा तट पर रावण को परास्त किया था। फिर परशुराम भी समकालीन ही थे, जिन्हें अंशावतार कहा जाता है। उन्होंने रावण को जीतनेवाले सहस्रार्जुन को हरा उसकी हजार भुजाएँ काट डाली थीं। अतः उनके लिए भी रावण का संहार करना कोई बड़ी बात नहीं थी। तो फिर श्रीराम के अवतार की आवश्यकता क्यों पड़ी? गोस्वामीजी एक दृष्टांत के माध्यम से उसका उत्तर प्रस्तुत करते हैं—

लंका के रणांगण में जब श्रीराम रावण का नाश कर देते हैं तो देवतागण आकर तरह-तरह से उनकी स्तुति करते हैं कि प्रभो, आपने उस दुष्ट का नाश कर हम पर बड़ी कृपा की। यह सारे विश्व का द्रोही था, दुष्ट और कामी था। उस कुमार्गगामी ने अपने पापों का ही फल पाया—

विस्व द्रोहरत यह खल कामी।
निज अघ गयउ कुमारग गामी॥

पर साथ ही देवताओं ने यह भी अनुभव किया कि यहाँ अन्य सब देवता तो हैं केवल भगवान शंकर नजर नहीं आ रहे हैं। किसी देवता ने टिप्पणी की कि शंकरजी शायद इसलिए नहीं आये क्योंकि रावण उनका प्रिय शिष्य था और शिष्य की मृत्यु पर गुरु का दुखी होना स्वाभाविक है। पर ऐसी बात नहीं। भगवान शंकर आते हैं—कब? गोस्वामीजी ने लिखा—

सुमन बरषि सब सुर चले चढ़ि चढ़ि रुचिर बिमान।
देखि सुअवसर प्रभु पहिं आयउ संभु सुजान॥

—जब देवता लोग स्तुति करके, श्रीराम पर फूल बरसा अपने सुन्दर विमानों पर चढ़ कर चले गये तब सुअवसर देख सुजान शंकर आये। गोस्वामीजी मानों व्यंग करते हैं कि जब अजानों की भीड़ छँट गयी तो सुजान शंकर आये। और वे आकर भगवान राम की प्रशंसा नहीं करते कि रावण का नाश कर उन्होंने बड़ा कल्याण किया, वरन् वे कह उठते हैं—

मामभिरक्षय रघुकुल नायक—प्रभो। मेरी रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए, बड़े आश्चर्य की बात! भगवान शंकर भला किससे अपनी रक्षा की याचना कर रहे हैं। रावण, कुम्भकर्ण तथा सारे राक्षसगण तो काल कवलित हो चुके हैं। अब वे किससे त्राण चाहते हैं? यही भगवान राम के अवतार की वह अनूठी दृष्टि है जिसे गोस्वामीजी भगवान शंकर के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। शंकरजी का तात्पर्य था—प्रभो! आपने एक रावण तथा कुम्भकर्ण का

नाश किया जिसके लिए देवताओं ने आकर आपकी प्रशंसा की। पर मेरी दृष्टि में रावण, कुम्भकर्ण और मेघनाथ मरे नहीं हैं। वे अभी भी मोह, अहंकार तथा काम के रूप में हमारे अन्तःकरण में विद्यमान हैं। आपका अवतरण केवल रावण नाम के व्यक्ति के नाश के लिए नहीं रावणत्व के नाश के लिए हुआ है जो दुर्गुणों के रूप में हमारे जीवन में विद्यमान है। इस रावणत्व से मेरी रक्षा कीजिए। यही शंकरजी की दृष्टि है जिसके माध्यम से गोस्वामीजी कहते हैं कि आज अब हमारे अन्तःकरण में मोह रूपी रावण, अहंकार रूपी कुम्भकर्ण तथा काम रूपी मेघनाद विद्यमान हैं तो उनके नाश के लिए भगवान राम को जीवन में अवतरित करने की आवश्यकता है। तुलसी के राम केवल एक ऐतिहासिक पुरुष ही नहीं, सबके अन्तर्यामी ईश्वर हैं जो भक्तों की आन्तरिक पुकार पर प्रकट होने के लिए सदैव प्रस्तुत हैं।

□

युगावतार श्रीरामकृष्ण

—प्रो० जी० एन० राय चौधरी
इलाहाबाद

हमारे देश भारत में अठारहवीं शताब्दी तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में एक ऐसा समय आया था जब धर्म का ह्रास हो चुका था और अधर्म की निरन्तर वृद्धि हो रही थी। रूढ़ियों और कुरीतियों से जकड़ा हुआ पतनोन्मुख भारतीय समाज अपने धर्म को लगभग भूला हुआ निराशा और भाग्यवादिता की गहरी नींद में सोया हुआ था।

कई हजार वर्षों की हमारी सांस्कृतिक विरासत खतरे में थी। हमारे राष्ट्रीय जीवन का मेरुदण्ड धर्म, हमारा दर्शन, हमारी आध्यात्मिकता—ये सब गहरे संकट में थे। एक ओर राजनीतिक अराजकता, दूसरी ओर सामाजिक अनाचार ओर आर्थिक शोषण। एक ओर हमारी अपनी निष्क्रियता और अनास्था, दूसरी ओर पाश्चात्य विज्ञान से उत्पन्न सन्देहवाद। ऐसी कठिन परिस्थितियों में धर्म को समाज में स्थापित करने के लिए बंगाल के हुगली जिले के एक गाँव कामारपुकुर में एक दरिद्र ब्राह्मण परिवार में १८ फरवरी, १८३६ को युगावतार श्रीरामकृष्ण परमहंस का आविर्भाव हुआ।

उन्होंने अपने पचास वर्षों के जीवन में न केवल भारत को वरन् सारी मानव-जाति को जो कुछ दिया, वह अतुलनीय है। उनके जीवन में हम आध्यात्मिक और नैतिक विकास का चरम उत्कर्ष देखते हैं। महात्मा गाँधी के शब्दों में "श्रीरामकृष्ण परमहंस के जीवन की कहानी आचरण में उतारे गये धर्म की कहानी है।" सच बात तो यह है कि श्रीरामकृष्ण के जीवन की अद्वितीयता इसी बात में निहित है कि उन्होंने जो कहा वह किया। उनकी कथनी और करनी में कोई अन्तर नहीं था। प्रेम और करुणा के अवतार श्रीरामकृष्ण का सारा जीवन ईश्वर-प्रेम और लोक-कल्याण की भावना से आप्लावित था। वे जानते थे कि उनका इस पृथ्वी पर आना एक विशेष उद्देश्य के लिए हुआ है—वह है मानव-जाति को यह बताना कि धर्म का वास्तविक रूप क्या है और जीवन का परम लक्ष्य क्या है?

श्रीरामकृष्ण के बचपन से ही यह प्रकट होने लगा था कि धर्म तथा ईश्वर के प्रति उनके मन में गहरा प्रेम है। उनके पिता खुदीराम

चट्टोपाध्याय और उनकी माता चन्द्रमणि देवी दोनों ही अत्यन्त त्यागी, भक्त सत्यनिष्ठ, परोपकारी, पवित्र और सरल व्यक्ति थे। माता-पिता ने उनका नाम रखा था- गदाधर। वे प्यार से गदाधर को गदाई कहते। गाँव के लोग भी उन्हें प्यार से गदाई कहते थे। उनका स्वभाव बड़ा ही सरल, मधुर और कौतुक प्रिय था। उनकी स्मरण शक्ति बड़ी तीव्र थी। देवी-देवताओं की स्तुतियाँ, रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत् की कथाओं के अंश, जात्रा-नाटकों के अधिकांश भक्तिभावपूर्ण गीत उन्हें कण्ठस्थ हो गये थे।

पाठशाला में दी जाने वाली शिक्षा में उनका मन नहीं लगता था। अभिनय करने, चित्रकारी करने, देवी-देवताओं की मूर्तियाँ गढ़ने तथा भक्तिभाव-पूर्ण गीत गाने में उनकी प्रतिभा अत्यन्त प्रखर थी। बड़ा ही मधुर कण्ठ था उनका। जब वे तन्मय होकर भक्तिभाव-पूर्ण गीत गाते तो स्वयं भावविह्वल हो जाते और उनकी आँखों से आँसू बहने लगते। सुनने वाले मन्त्रमुग्ध और भावविभोर हो जाते। ऐसा जादू था उनके गीतों में क्योंकि उन गीतों में रहता था उनका गहरा ईश्वर प्रेम, अन्तर की तीव्र व्याकुलता और संसार के प्रति तीव्र वैराग्य।

लाहाबाबू की अतिथिशाला में आने वाले साधु संन्यासियों का सत्संग और उनकी सेवा उन्हें अत्यन्त प्रिय थे। जात्रा नाटकों के धार्मिक और पौराणिक उपाख्यान उन्हें बहुत अच्छे लगते। कथावाचकों का रामायण तथा भागवत्-पाठ वे बड़े ध्यान से सुनते। गाँव के बाहर एक अमराई में अपने मित्रों के साथ वे कृष्ण-जात्रा का अभिनय करते, हरिनाम कीर्तन करते। अमराई अभिनय, संगीत और नृत्य की ध्वनियों से गूँज उठती।

छः सात वर्ष की उम्र में वे एक बार धान के खेतों की मेड़ पर मुरमुरा खाते हुए चले जा रहे थे। आकाश में काले-कजरारे मेघ छाये हुए थे। अचानक उन्होंने देखा कि बिल्कुल सफेद बगुलों की पंक्ति काले बादलों के नीचे उड़ती जा रही है। यह दृश्य उन्हें इतना मनोहर लगा कि उन्हें एक दिव्य आनन्द की अनुभूति हुई और वे भावविभोर होकर एक अतीन्द्रिय जगत में जा पहुँचे। उनकी बाह्यचेतना लुप्त हो गयी। वे समाधिमग्न हो गिर पड़े।

कुछ महीनों के बाद वे अपने गाँव की कुछ महिलाओं के साथ पास के गाँव आनुड़ में स्थित विशालाक्षी देवी के मन्दिर की ओर जा रहे थे। रास्ते में देवी का भजन गाते हुए वे भावविह्वल होकर भावसमाधि में लीन हो गये।

एक-दो वर्ष बाद एक ऐसी ही घटना घटी। शिवरात्रि की रात को शिवजात्रा नाटक में गदाधर शिव की भूमिका निभाने के लिए शिव की वेश भूषा में दर्शकों के सामने उपस्थित हुए। वे साक्षात् शिव लग रहे थे। दर्शक आनन्द से गद्गद हो गये। इधर शिवभक्ति के भावावेश में गदाधर समाधिस्थ हो गये, रात भर उनकी समाधि भंग न हुई। इस तरह नाटक ही न हो सका।

नौ वर्ष की उम्र में उनका उपनयन संस्कार हुआ। इस अवसर पर उन्होंने उस समय की परम्पराओं के विरुद्ध सबसे पहली भिक्षा धनी लोहारिन से ली, क्योंकि उन्होंने उसे ऐसा वचन दिया था। पिता की मृत्यु हो जाने के कारण बड़े भाई रामकुमार ही अब उनके अभिभावक थे। उनके आपत्ति करने पर गदाधर ने कहा कि उन्हें वचन दिया है और जो व्यक्ति सत्य की रक्षा नहीं करता, उसे यज्ञोपवीत धारण करने का कोई अधिकार नहीं है। धनी लोहारिन ने उनके जन्म के समय से उनकी परिचर्या की थी। इस घटना से उनका गहरा सत्य-प्रेम प्रकट होता है।

लाहाबाबू के यहाँ एक श्राद्ध के अवसर पर विद्वान् पण्डितों में किसी विषय पर वाद-विवाद हो

रहा था। दस वर्ष के बालक गदाधर ने उसका सही समाधान सुझाव के रूप में एक पण्डित के सामने रखा। इस छोटे से बालक के विलक्षण ज्ञान को देखकर सारे पण्डित दंग रह गये।

उपनयन के बाद गदाधर अपने घर में रघुवीर शिला की नियमित पूजा करने लगे। पूजा-पाठ, जप-ध्यान, अभिनय और भक्तिगीतों में उनका समय बीतने लगा। पढ़ाई के प्रति उनकी यह उदासीनता देखकर १८५२ में बड़े भाई रामकुमार उनको अपने साथ कलकत्ता ले गये जहाँ उन्होंने झामापुकुर में एक संस्कृत पाठशाला खोल रखी थी। वहाँ कुछ घरों में वे पुजारी का काम करने लगे और सबके प्रिय हो गये। रामकुमार ने उनको एक दिन डाँटा पढ़ाई के प्रति उपेक्षा के कारण। गदाधर ने जवाब दिया, "मैं यह रोटी कमाने वाली विद्या लेकर क्या करूँगा? मैं तो ऐसी विद्या चाहता हूँ जो मेरे हृदय को आलोकित कर दे और मुझे हमेशा-हमेशा के लिए तृप्त कर दे।" रामकुमार यह सुनकर चुप हो गये।

३१ मई, १८५५ के महत्वपूर्ण दिन रानी रासमणि द्वारा निर्मित दक्षिणेश्वर काली मन्दिर में प्रतिमा प्रतिष्ठापन का कार्य सम्पन्न हुआ और रामकुमार काली मन्दिर के पुजारी नियुक्त हुए। यह घटना श्रीरामकृष्ण के जीवन में एक नया मोड़ लाती है, साथ ही उनकी अध्यात्मिक साधना के लिए विराट् सम्भावनाओं के द्वार खोलती है। १८५५ में ही श्रीरामकृष्ण पहले राधाकान्त मन्दिर में, फिर काली मन्दिर में पुजारी नियुक्त हुए। काली पूजा के लिए वे पहले ही हावड़ा के पण्डित केनाराम भट्टाचार्य से दीक्षा ग्रहण कर चुके थे। उन्होंने अपनी अनन्य भक्ति के साथ माँ भवतारिणी की पूजा शुरू कर दी। उनकी पूजा सामान्य पुजारी जैसी न थी। उसमें था अटूट विश्वास, अथाह प्रेम और तीव्र व्याकुलता। १८५६ में बड़े भाई रामकुमार की मृत्यु के बाद उनके अन्दर ईश्वर-प्रेम एवं वैराग्य और प्रबल हो उठा।

वे अब माँ भवतारिणी को चिन्मयी, प्रेममयी और आनन्दमयी माँ के रूप में देखना चाहते थे। माँ काली के दर्शन के लिए श्रीरामकृष्ण के हृदय की व्याकुलता दिन पर दिन बढ़ने लगी। वे दिन में मन्दिर में तन्मयता के साथ पूजा करते। यह पूजा भक्ति के आवेश में अक्सर शास्त्र विधि के अनुकूल न होती। फिर रात को पंचवटी के पास जंगल में जाकर जप, ध्यान और व्याकुल रुदन करते। अन्त में उनकी छटपटाहट इतनी बढ़ गयी कि उन्होंने जीवन का अन्त करना चाहा और तभी उन्हें वराभयदायिनी जगज्जननी माँ काली ने दर्शन दिया। अब उनकी व्याकुलता और बढ़ गयी और वे माँ काली के नित्यदर्शन के लिए पागल-से हो गये। उनके द्वारा अब नियमित पूजा सम्भव न थी। इसलिए यह काम उनके भानजे हृदय को दे दिया गया। उन्होंने पंचवटी के जंगल में जाकर गहरी तपस्या शुरू कर दी। दिन में वे माँ-माँ कहकर चिल्लाते घूमते रहते। उनके इस दिव्योन्माद या ईश्वरोन्माद को लोग पागलपन समझते। रानी रासमणि के दामाद मथुर बाबू ने कविराज गंगा प्रसाद सेन द्वारा उनकी चिकित्सा की व्यवस्था की। परन्तु कोई लाभ न हुआ। कुछ दिनों बाद जब ये माँ काली के दर्शन अक्सर पाने लगे, तब उनका दिव्योन्माद कुछ शान्त हुआ।

इसके बाद उन्होंने वैष्णव सम्प्रदाय के दास्य-भाव की साधना की। श्रीहनुमान को अपना आदर्श मानकर इन्होंने श्रीरामचन्द्र और सीताजी के दर्शन किये और इस प्रकार इस साधना में सिद्धि प्राप्त की।

१८५८ में अपनी माँ चन्द्रमणि देवी के बार-बार लिखने पर वे कामारपुकुर गये। वहाँ उनके भाई और माँ ने उनका विवाह कराने की कोशिश की। श्रीरामकृष्णके अपने सुझाव पर जयरामबाटी

में रामचन्द्र मुखर्जी की पंच-वर्षीय कन्या सारदामणि देवी से उनका विवाह हुआ। उनकी आध्यात्मिक साधना यहाँ रुकी नहीं। कामारपुकुर के एक श्मशान में बैठकर वे कठोर तपस्या करते। पूजा और ध्यान में लगभग सारी रात बीत जाती।

वहाँ लगभग डेढ़ वर्ष तक रहने के बाद १८६० में वे दक्षिणेश्वर लौट आये। फिर दिव्योन्माद ने उन्हें आ घेरा। लगभग एक वर्ष तक वे कठोर तपस्या करते रहे। पंचवटी के जंगल में वे गहरे ध्यान में डूब जाते और उनके बालों की जटा बन जाती, चिड़ियाँ उस पर आकर बसेरा करतीं, और साँप उनके निश्चल शरीर पर रेंगते रहते।

इस महत्वपूर्ण काल की एक साधना यह भी थी। वे धन की आसक्ति और जाति के अभिमान से मुक्त होना चाहते थे। इसलिए गंगा के तट पर बैठ कर एक हाथ में मिट्टी और दूसरे हाथ में रुपये रख कर कहते—"टाका माटी, माटी टाका (रुपया मिट्टी है और मिट्टी रुपया है)", फिर दोनों को गंगा में फेंक देते। धीरे-धीरे वे धन की आसक्ति से पूर्णतः मुक्त हो गये। कुलीनता और जाति की उच्चता का भाव त्यागने के लिए वे एक साधारण मेहतर की तरह गन्दे स्थानों को धोकर साफ किया करते तथा मन्दिर के बाहर भिखारियों द्वारा छोड़े गये उच्छिष्ट भोजन को ग्रहण करते। जूठे पत्तल सर पर उठाकर ले जाते और जूठन वाले स्थान धोकर साफ करते। उनके चचेरे भाई हलधारी उनके इस आचरण की तीव्र आलोचना करते, पर वे ध्यान न देते।

१८६१ में भैरवी ब्राह्मणी का दक्षिणेश्वर में आगमन हुआ। १८६१ से १८६३ तक श्रीरामकृष्ण ने ब्राह्मणी के निर्देशन में तन्त्र-साधना की। ६४ मुख्य तन्त्रों में वर्णित सारी साधनाएँ उन्होंने की और उनमें सिद्धि प्राप्त की। ब्राह्मणी और श्रीरामकृष्ण का सम्बन्ध माता-पुत्र जैसा रहा। भैरवी ब्राह्मणी ने यह घोषित किया कि वे ईश्वर के अवतार हैं। उनके कहने पर दो प्रकाण्ड पण्डितों —वैष्णवचरण तथा गौरीकान्त तर्कभूषण—को बुलाया गया। उन्होंने भी इस बात का समर्थन किया।

१८६४ में रामभक्त जटाधारी बाबा का पदार्पण हुआ। श्रीरामकृष्ण ने उनसे प्रेरणा पाकर वैष्णव-धर्म के वात्सल्य-भाव की साधना की। बालक राम उनके साथ खेलते, शैतानी करते, नदी में नहाते और कभी-कभी श्रीरामकृष्ण बालक राम के नटखटपन से तंग आकर उन्हें मार बैठते, फिर फूट-फूट कर रोते।

जटाधारी बाबा के चले जाने के बाद श्रीरामकृष्ण ने मधुर भाव की साधना की। इन दिनों वे स्त्री के वेश में रहते, स्त्रियों जैसा व्यवहार करते और श्रीकृष्ण को प्रियतम के रूप में देखते। इस साधना के फलस्वरूप उन्होंने पहले राधा फिर कृष्ण के दर्शन किये। इसी वर्ष नागा संन्यासी तोतापुरी आये। उनके निर्देशन में श्रीरामकृष्ण ने वेदान्त-साधना की और आश्चर्यजनक रूप से तीन दिनों के अन्दर वे निर्विकल्प समाधि में लीन हो गये। इस समाधि की दशा को प्राप्त करने के लिए तोतापुरी को ४० वर्षों तक नर्मदा के तट पर कठोर तपस्या करनी पड़ी थी। तोतापुरी तीन दिन से अधिक कहीं नहीं रहते थे, परन्तु वे श्रीरामकृष्ण से इतने प्रभावित हुए कि वे दक्षिणेश्वर में ११ महीने रह गये। जाने के पहले उन्होंने माँ काली को ब्रह्म की शक्ति के रूप में स्वीकार किया।

छः महीने तक निर्विकल्प समाधि के प्रभाव में वेदान्त के धरातल पर रहने के बाद उन्हें माँ काली का आदेश हुआ, "त भावमुखी होकर रह" (अर्थात् ब्रह्मज्ञान के बाद भी जगत के सापेक्ष अस्तित्व को मानते हुए तू लोककल्याण के लिए जीवित रह)। फिर छः महीने तक वे कठिन पेचिस रोग से पीड़ित रहे। तब धीरे-धीरे उनके अन्दर शरीर की चेतना आयी।

स्वस्थ होते ही १८६६ में उन्होंने सूफी सन्त गोविन्द राय से दीक्षित होकर इस्लाम धर्म की साधना की और इस मार्ग द्वारा भी ईश्वर ज्ञान प्राप्त किया।

१८६७ में भैरवी ब्राह्मणी और हृदय के साथ वे कामारपुकुर गये। सारदामणि जयरामवाटी से बुलायी गयीं। उनके आने पर श्रीरामकृष्ण ने उनके साथ अत्यन्त स्नेहपूर्ण व्यवहार किया और उन्हें गृह-कार्य और सामाजिक आचार-व्यवहार में प्रशिक्षित किया। कुछ दिनों बाद भैरवी ब्राह्मणी ने श्रीचैतन्य के अवतार के रूप में उनकी पूजा कर वहाँ से विदा ली।

१८६७ में वे मथुर बाबू के साथ तीर्थयात्रा पर निकले। देवघर के पास एक गाँव में दीन-दुखियों की दशा देख कर वे द्रवित हो गये। उनके कहने पर जब मथुर बाबू ने इन दीन दुखियों के बीच अन्न-वस्त्र वितरित किये, तभी वे आगे बढ़े। वाराणसी, प्रयाग, वृन्दावन, मथुरा आदि तीर्थों का भ्रमण कर वे दक्षिणेश्वर वापस आ गये।

१८७२ में श्रीमाँसारदा देवी का दक्षिणेश्वर में पहली बार आगमन हुआ। श्रीरामकृष्ण ने पवित्र आध्यात्मिक सम्बन्ध रखते हुए दाम्पत्य जीवन का सर्वोच्च आदर्श उपस्थित किया। वास्तव में उनके विवाह के दो उद्देश्य थे—एक तो जीवन का यह सर्वोच्च आदर्श लोगों के सामने रखकर समाज में नारी को सम्मानपूर्ण स्थान दिलाना, दूसरा उद्देश्य था श्रीमाँ को आध्यात्मिक साधना और सेवाकार्य में प्रशिक्षित कर अपनी महासमाधि के बाद आध्यात्मिक ज्ञान के प्रचार और लोक-कल्याण-कार्य के लिए छोड़ जाना। इसी वर्ष उन्होंने श्री माँ की देवी के रूप में पूजा की। इस पूजा को तन्त्रों के अनुसार षोड्शी पूजा या त्रिपुरा सुन्दरी पूजा कहते हैं।

१८७४ में उन्होंने ईसाई मत के अनुसार साधना की। परिणामस्वरूप उन्हें पंचवटी में ईसामसीह के दर्शन हुए। ईसा उनके शरीर में विलान हो गये। इस प्रकार उन्होंने विभिन्न साधनाओं द्वारा सत्य को जाना।

साधना की पूर्णता के बाद उनके हृदय में भक्तों के लिए व्याकुलता बढ़ने लगी। वे अपनी साधना की अनुभूतियों के विषय में भक्तों को बताना चाहते थे। सांसारिक लोगों की बातचीत से उनके कान पक गये थे। जब काली मन्दिर में आरती के घण्टे बजते वे उद्यान-भवन की छत से व्याकुलता के साथ चिल्लाते—"बच्चो, आओ। तुम लोगों से मिलने के लिए मैं व्याकुल हूँ।" धीरे-धीरे उनके भक्तों और शिष्यों का आना शुरू हुआ।

१८७५ में श्रीरामकृष्ण पहली बार खुद जाकर विख्यात साधक केशवचन्द्र सेन से मिले। केशव और उनके ब्रह्मसमाजी शिष्य श्रीरामकृष्ण से काफी प्रभावित हुए। केशवचन्द्र ने अपने व्याख्यानों तथा लेखों द्वारा उनके महान् व्यक्तित्व और विचारों के सम्बन्ध में प्रचार किया। कलकत्ते के उच्च शिक्षा प्राप्त बहुत से लोगों को श्रीरामकृष्ण के बारे में इन्हीं व्याख्यानों और लेखों के द्वारा जानकारी मिली थी।

१८७९ में दक्षिणेश्वर में शिष्यों का आगमन शुरू हुआ। १८८० में राखालचन्द्र घोष और नरेन्द्रनाथ दत्त का आगमन हुआ। बाद में राखाल स्वामी ब्रह्मानन्द और नरेन्द्र नाथ स्वामी विवेकानन्द के नाम से विख्यात हुए।

नरेन्द्रनाथ और श्रीरामकृष्ण के सम्बन्धों की कहानी बड़ी महत्वपूर्ण और रोचक है। दोनों ने एक-दूसरे को ठोक-बजाकर देखा और तब इस गुरु शिष्य सम्बन्ध को स्वीकार किया। नरेन्द्रनाथ एक उपयुक्त गुरु की तलाश में थे और श्रीरामकृष्ण एक उपयुक्त शिष्य की तलाश में। आखिरकार दोनों को इस खोज में सफलता मिली। ४-५ वर्षों के बाद जब नरेन्द्र ने माँ काली से ज्ञान, भक्ति

और विश्वास की प्रार्थना की, तो श्रीरामकृष्ण अत्यन्त प्रसन्न हुए। बच्चों की तरह वे सबसे कहने लगे, "जानते हो ? नरेन ने माँ को स्वीकार कर लिया है।"

उसी रात को नरेन्द्र नाथ ने अपने गुरु से माँ काली का एक भजन सीखा था जिसकी पहली पंक्ति है—"आमार माँ त्वं हि तारा"। सारी रात गंगातट पर नरेन्द्र भावावेश में यह गीत गाते रहे। अगले दिन सवेरे वे गहरी नींद में सोये हुए थे।

श्रीरामकृष्ण के संन्यासी शिष्यों में नरेन्द्र नाथ अर्थात् स्वामी विवेकानन्द का योगदान न केवल भारत के वरन् विश्व के इतिहास में अमर रहेगा। उन्होंने श्रीरामकृष्ण के संदेश का प्रचार देश-विदेश में बड़ी दृढ़ता के साथ किया। भारत का खोया हुआ आत्म सम्मान उन्होंने वापस दिलाया। गुरु के प्रति उनकी श्रद्धा और आस्था असीमित और अतुलनीय थी।

१८७५ से १८८६ तक के अन्तिम ११-१२ वर्षों में बंगाल के उच्च शिक्षा प्राप्त प्रसिद्ध लेखक, पत्रकार, समाज-सुधारक तथा विद्वान् व्यक्ति उनके सम्पर्क में आये और उनसे प्रभावित हुए। इनमें कुछ नाम उल्लेखनीय हैं :—'केशवचन्द्र सेन, महाराज जतीन्द्र मोहन टैगोर, महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर, क्रिष्टो दास पाल, प्रतापचन्द्र मजुमदार, शिवनाथ शास्त्री, विजयकृष्ण गोस्वामी, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बंकिमचन्द्र चटर्जी, गिराशचन्द्र घोष, अश्विनी कुमार दत्त और माइकेल मधुसूदन दत्त।'

केशवचन्द्र सेन श्रीरामकृष्ण के विचारों से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपने नये धार्मिक सिद्धान्तों (नवविधान) का प्रतिपादन करते हुए ब्रह्म को मातृशक्ति के रूप में स्वीकार किया।

बंगाल के तत्कालीन विख्यात नाटककार और अभिनेता गिरीशचन्द्र घोष तो श्रीरामकृष्ण के परम भक्त बन गये। उनके गृहस्थ भक्तों में, जो उनसे अत्यन्त घनिष्ठ हो गये थे, उल्लेखनीय हैं रामचन्द्र दत्त, मनोमोहन मित्र, सुरेन्द्रनाथ मित्र, केदारनाथ चटर्जी, सुरेशचन्द्र दत्त, गिरीशचन्द्र घोष, दुर्गाचरण नाथ (नाग महाशय) और महेन्द्र नाथ गुप्त। इन गृहस्थ भक्तों में विशिष्ट हैं नागमहाशय और महेन्द्र नाथ गुप्त जो बाद में 'श्रीरामकृष्ण कथामृत' के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हुए।

जीवन के अन्तिम ११-१२ वर्षों में उनकी लोकशिक्षा का कार्य जोर-शोर से चलता रहा। ठाकुर श्रीरामकृष्ण की विनम्रता, दया, क्षमा, करुणा, सरलता और पवित्रता जैसे गुणों से सभी व्यक्ति प्रभावित होते थे। दक्षिणेश्वर के उनके कमरे में उनके गृहस्थ भक्त और संन्यासी शिष्य प्रायः प्रतिदिन इकट्ठा होते। वे कभी-कभी कलकत्ते में अपने गृहस्थ भक्तों के यहाँ जाते। वहाँ भी उनके भक्त इकट्ठे होते। इन बैठकों में हरिनाम कीर्तन होता, भक्तिभावपूर्ण गीत और नृत्य होते। ठाकुर प्रायः समाधिमग्न हो जाते, फिर चेतना वापस आने पर उनके श्रीमुख से अध्यात्मिक शिक्षाओं की अमृत-वर्षा होती। लोग मन्त्रमुग्ध होकर उनकी अमृत वाणी सुनते। उनकी शिक्षाओं से उन्हें परम शान्ति और आनन्द मिलता। इन बैठकों में एक ऐसा पवित्र वातावरण व्याप्त हो जाता कि उपस्थित लोग उससे बहुत प्रभावित होते, उनका हृदय-परिवर्तन होने लगता। गिरीश घोष, जिनका जीवन पहले काफी उच्छृंखलता और विलासिता से भरा हुआ था, ठाकुर के सम्पर्क में आकर बिल्कुल बदल गये थे। वे डंके की चोट पर सबसे कहते थे कि ठाकुर ईश्वर के अवतार हैं। १८८५ में ठाकुर बीमार हुए। श्यामपुकुर और काशीपुर में इलाज के बाद उन्होंने १६ अगस्त, १८८६ को महासमाधि ले ली।

विवेकानन्द आविर्भाव-उत्सव एवं युवा समाज

—स्वामी प्रभानन्द

[स्वामी प्रभानन्दजी महाराज, रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के सह-सचिव, प्रखर मनीषी, सुचिन्तक एवं प्रेरक वाग्मी हैं। स्वामी विवेकानन्द के १२५वें जन्मोत्सव के अवसर पर सन् १९८८ में लिखित उनके बंगला लेख का अनुवाद डॉ० शैल पाण्डेय, प्राध्यापिका, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने विवेकशिखा के लिए किया है।—सं०]

विवेकानन्द-आविर्भाव का एक सौ पच्चीसवाँ वर्ष सारे देश में तथा विदेशों में भी कुछ स्थानों पर समारोहपूर्वक अनुष्ठित हो रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह अनुष्ठान अधिकांशतः उत्सव-केन्द्रिक ही हैं। उत्सव स्थलों की साज-सज्जा, रोशनी, माइक का कर्णभेदी शोर तथा इनके साथ युवा-सम्मेलनों में वक्तृताओं की गर्मी ध्रुपद-संगीत की मूर्च्छना, लंबी-लंबी शोभायात्राओं की दमक, दरिद्रनारायण सेवा के कर्म-चांचल्य ने स्थानीय तरुणों को मत्त कर रखा है। पत्र-पत्रिकाओं, बेतार तथा दूर-दर्शन ने उत्सव की मर्यादा को और बढ़ा दिया है। उत्सव में धूम मचाना स्वाभाविक है, किन्तु यदि वह पटाखे की तरह कुछ क्षण प्रकाश की फुलझड़ी छोड़कर समाप्त हो जाय, तो उत्सव के वास्तविक फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। उपलक्षित विषय में चिन्तन, भावावेग, उत्साह यदि उत्सव में भाग लेने वालों की हृदय-अग्नि को प्रज्वलित न कर सके एवं उस अग्नि में व्यक्ति-चेतना और समाज-चेतना प्रदीप्त न हो उठे तथा इसके परिणामस्वरूप विवेकानन्द अभीप्सित परिवर्तन के लिए जरा भी प्रस्तुति न हो, तो विवेकानन्द-जयन्ती की सार्थकता नहीं है।

विवेकानन्द-आविर्भाव भारतवर्ष के इतिहास में एक विशिष्ट घटना है। स्वामी विवेकानन्द ने ऐवलांच अथवा पर्वत-वाहित तुषार-स्तूप की भाँति समाज पर गिर कर, विस्फोरण का रूप धारण किया था। चारों दिशाएँ 'हर-हर महादेव' की ध्वनि से काँप उठी थी। बड़ी हलचल मच गयी थी। विवेकानन्द-वाणी के तड़ित स्पर्श से समाज की देह सिहर उठी थी। निद्रित जाति की चेतना लौटी थी और अपने चारों ओर देखकर उसने परिस्थिति को समझने की चेष्टा की थी। दीर्घकाल की पराधीनता के परिणामस्वरूप जड़ता और क्लीवता, परंपरा के शासन और रूढ़िबद्धता ने समाज को पंगु कर रखा था। जीवन का मूल्यबोध विकृत हो गया था। हताशा, उद्भ्रान्ति, अर्थनैतिक विपर्यय ने घने कुहासे की भाँति चतुर्दिक आच्छन्न कर रखा था। इसके अतिरिक्त, शिक्षित देशवासियों के जीवन में पाश्चात्य जीवन दर्शन, रुचि-बोध और कार्यप्रणाली घुस आयी थी। सर्वग्रासी भावदास्य के वायुमण्डल में परानुवाद, परानुकरण, परमुखापेक्षा आदि ने देशवासियों के स्वजाति-बोध का हरण कर लिया था। स्वकीयता एवं ऐतिह्य भुला कर जाति ने पाश्चात्य संस्कृति के सामने भावगत भाव से आत्मसमर्पण कर दिया था। स्वामी विवेकानन्द की आशंका 'भय है कि कहीं इस पाश्चात्य वीर्य-तरंग में हमारी बहुकालार्जित रत्नराजि डूब न जाय' वास्तविकता में परिणत होने लगी थी। जाति के दुःस्वप्न का यह अंधकार विवेकानन्द रूपी शंखध्वनि से नष्ट हुआ था। विवेकानन्द-तरंगाघात से नव-चेतना का उन्मेष हुआ था, राष्ट्रीय-जीवन गठन का प्रयास दिखाई पड़ने लगा था, युवकगण महत्तर जीवन के लिए अग्निमय-अभिलाषा में उद्बुद्ध हो उठे थे।

केवल राजनैजिक चेतना का ही विकास नहीं, बरन् सर्वात्मक जागरण रूपी मलय-वायु बहने लगी थी। फलस्वरूप हमारे जातीय-जीवन में हुआ 'तिमिर विदार उदार अभ्युदय।'

विवेकानन्द थे आजन्म विद्रोही, विचारों में स्वाधीन, बुद्धि में सृजनशील, हृदयवत्ता में बंधन-हीन। प्रचण्ड शक्तिशाली था उनका व्यक्तित्व। श्रीरामकृष्ण की भाषा में वे थे 'म्यान से निकली हुई तलवार।' विवेकानन्द थे 'युवा शक्ति का अवतार।' मूर्तिमान 'अभी:'। आत्मा को जगाने वाली सोने की डंडी। आज विवेक-वाणी सारे जगत में प्रसारित हो गयी है। विवेक की यह वाणी मनुष्य को अभयदान दे रही है। अमृत वितरण कर रही है। रससिद्ध, प्राणस्पन्दित, शक्ति-वाहित यह वाणी मनुष्य की चिर प्रेरणा का उत्स है। कान खोलते ही सुनाई पड़ता है विवेक वाणी का मेघनंद्र स्वर। इस वाणी पर मनन करने पर स्पष्ट हो उठता है श्री अरविन्द का कथन 'मातृ-भूमि की जागृत आत्मा में विवेकानन्द अभी भी जीवन्त हैं।'

१८९७ ई० में स्वामी विवेकानन्द ने आह्वान किया था, :—आगामी पचास वर्षों तक हमारी महिमामयी भारतमाता ही हमारी आराध्य देवी हों।' उस अग्नि-आह्वान पर देशप्रेमी तरुण देश को पराधीनता की शृंखला से मुक्त कराने को कूद पड़े थे। देशप्रेम के प्लावन ने भारतीय मानस-भूमि को उर्वर बना डाला था और विदेशी शासकों के मन में भय का संचार किया था। ऐतिहासिक दृष्टि से विवेकानन्द आधुनिक भारतीय राष्ट्रीयता-वाद के जनक हैं। विवेकानन्द-भावाग्नि में परि-शुद्ध हुए हैं हमारे राष्ट्रनेता-महात्मा गाँधी, देशबंधु चित्तरंजन दास, और नेताजी सुभाषचंद्र बोस। उसी भावाग्नि से ही उद्दीपित हुए हैं दार्शनिक अरविन्द, कवि रवीन्द्रनाथ, समाज सुधारक गोखले। उसी भावमण्डल में उज्जीवित हैं अनेक साहित्य-कार, शिल्पी एव गृहवधू। वर्तमान शताब्दी के कई दशकों के युवकों पर उनके प्रभाव का उल्लेख करते हुए रवीन्द्रनाथ ने कहा था: 'उन्होंने सभी देशवासियों को पुकार कर कहा था— तुम सभी में ब्रह्मशक्ति विद्यमान है,—दरिद्र में स्थित देवता तुम्हारी सेवा चाहते हैं।' इसी से इस वाणी का फल देश की सेवा में आज विचित्र भाव में विचित्र त्याग में फलित हो रहा है।

किन्तु राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् देश का नेतृवृन्द सर्वप्राप्ति के आत्मप्रसाद में डूब गया, और इधर जनता में हुआ आकस्मिक प्रत्याशा का विस्फोरण। इस नवीन परिस्थिति में भारत के त्याग और सेवा के महान आदर्श को देशवासी भुला बैठे। क्रमश: आत्मकेन्द्रिक मानसिकता ने उन्हें आच्छन्न कर डाला। देशवासी भुला बैठे स्वामीजी की चेतावनी वाणी, देश की स्वाधीनता प्राप्ति संभवत: सहज है, किन्तु उस स्वाधीनता की रक्षा करना और समाज का उन्नयन करना कठिन कार्य है। नये देशनेताओं की कपट-आत्मप्रीति में विवेकानन्द-भावना का महत्व कम हो गया। राजनैतिक उद्देश्य से प्रेरित नवीन विश्वास की आँधी में विवेकानन्द-सत्य का निर्मल आलोक युवा-समाज के सम्मुख अस्पष्ट हो उठा।

प्रवहमान विवेकानन्द तरंग स्वाधीनोत्तर भारत वर्ष में परिवर्तन लाती चल रही है। किन्तु देश का नेतृत्व करने वाले विचारकों की विवेकानन्द-भावना के विषय में अज्ञता उस भाव तरग को अभीप्सित लक्ष्य की ओर चालित नहीं होने दे रही है! इसके अतिरिक्त तरह-तरह के प्रभावों के द्वारा परिपुष्ट उनकी विपरीत भावना ने विगत चार दशकों में देश की परिस्थिति को जटिल बना दिया है। आधुनिक परिस्थिति के कुछ रूपों पर दृष्टिपात करने से ही हमारी बात स्पष्ट हो उठेगी।

विदेशी राजशक्ति के शासन एव शोषण से मुक्त होकर भारतवर्ष ने समाजवादी गणतांत्रिक संविधान अपनाया है। भारतवासी हैं धर्मप्राण। धर्म ही राष्ट्र का मेरुदण्ड है। किन्तु धर्म निरपेक्ष

राष्ट्रव्यवस्था में धर्म उपेक्षित है। संविधान में विघोषित न्याय, साम्य एवं मैत्री अभी भी जन साधारण की पहुँच से परे हैं: पन्द्रह वर्षों में, चौदह वर्ष की आयु तक सभी भारतीय बच्चों को शिक्षादान की प्रतिश्रुति आज भी लाल फीते के बंधन में आबद्ध है। इसके अतिरिक्त भाषा, धर्म, आंचलिकता राजनैतिक मतवादों का सहारा लेकर विरोध और विच्छिन्नता की आशंका बढ़ती जा रही है। सामाजिक अस्थिरता ने जातिपाँति की समस्या, विधानसभा एवं शिक्षा प्रतिष्ठानों में संरक्षण की समस्या को बढ़ा डाला है। इन सबके अलावा इस दूरत्व-संकुचित जगत में भारत पर विश्व की विभिन्न घटनावलियों के प्रभाव ने परिस्थिति को जटिलतर कर डाला है। भारतीय संस्कृति की सहधर्मिता एवं सहावस्थान का आदर्श आज प्रचंड चुनौती के सम्मुख है।

हमारी उन्नयन-परिकल्पना नगर-केन्द्रिक मध्यवर्ग के नेतृत्व में निर्मित हुई है। शहरों में संपन्न मध्यवर्ग का प्रसार हो रहा है। विगत दो दशकों में ग्रामों में भी एक संपन्न मध्यवर्ग संप्रदाय का अभ्युदय हुआ है। नीहार रंजन राय ने इन लोगों का नामकरण 'Rururban' किया है। इनके द्वारा शहरों के सम्पन्न वर्ग का अनुसरण करने पर भी दोनों श्रेणियों में स्वार्थ की लड़ाई है। जनसंख्या के ७६.७ प्रतिशत लोगों का वास ग्राम में है। ग्रामीण जीवन में भोगतारतम्य का संघर्ष यद्यपि उच्च एवं निम्नजातियों के मध्य है, उच्च जाति के बहुसंख्यक लोग शहरों में प्रतिष्ठित हैं। वहाँ उनकी जीविका का विकल्प अवलम्बन है। इसी से ग्रामीण जीवन में विरोध प्रधानतः मध्य एवं निम्न जाति के साथ और भी नीची जाति का है। स्वामी विवेकानन्द चाहते थे कि देशोन्नयन में समाज के निम्न वर्ग के लोग अग्राधिकार-प्राप्त करें। उन्हें देने पाने के बाद यदि कुछ बचे तो अन्य लोग पाएंगे। परिताप का विषय है कि उन्नयन-सूची की फसल वे ही अपने घर में ले आये हैं, जो पहले से ही कुछ सम्पन्न थे। परियोजनाएँ मानो तैलयुक्त सिर में और भी तेल डालती जा रही है। इधर निम्न वर्ग का मनुष्य अशन-वसन के न्यूनतम प्राप्य से वंचित, निरक्षरता के अंधकार में निमग्न, अस्पृश्यता के अभिशाप से दग्ध है। लांछना, उत्पीड़न इनके नित्य संगी हैं। किन्तु विवेकानन्द-तरंग के अभिघात से इनमें जाग उठे हैं नारायण। विवेकानन्द विघोषित शूद्र जागरण की पदध्वनि सुनाई पड़ रही है। स्वामीजी के विचारानुसार ये लोग क्रमशः संघबद्ध होकर 'अपना न्यायोचित अधिकार वसूल करने को दृढ़ प्रतिज्ञ' हो रहे हैं।

विवेकानन्द के विचारानुसार हमारा एक जातीय पाप है 'स्त्रियों को पैरों तले कुचलना'। पुरुष-शासित समाज में नारी अभी भी अवहेलित है। एक नारी के शिक्षित होने पर एक पूरा परिवार शिक्षित होता है—सर्वजन स्वीकृत इस सत्य ने विकास-कार्यक्रम में स्थान नहीं प्राप्त किया। फलतः नारी निरक्षरों की संख्या ७५ प्रतिशत से भी अधिक है। आज कुछेक शहरों में शिक्षिता नारी पुरुष से होड़ लेने हेतु नारी युद्ध आन्दोलन में व्यस्त है, दूसरी ओर अधिकांश नारी-समाज जिस अंधकार में था, उसी अंधकार में पड़ा है। इसके अतिरिक्त विशेषज्ञों के अनुसार नारी-भ्रूण हत्या, नारी-उत्पीड़न आदि कारणों से पुरुषों की अपेक्षा नारी जनन संख्या क्रमशः कम होती जा रही है। शिक्षित स्त्रियाँ नारी समाज का भाग्य निर्धारण करेंगी—स्वामी विवेकानन्द की यह परिकल्पना अभी भी दूर है।

१९८१ ई० की जनगणना के अनुसार जनसंख्या के १८.२ प्रतिशत लोग १५ से २४ वर्ष की आयु के अन्तर्गत हैं। यही हरित, अपरिपक्व एवं अपरिणतों का दल है। ये ही यौवन-जलतरंग की खरस्रोत वेगवान धारा है। सुनियोजित नियंत्रण द्वारा यही युव-शक्ति देश का अपरिमित कल्याण कर सकती है। और फिर, बंधन टूटने पर इसी दुर्वार युव-शक्ति के प्लावन से समाज में महा

अनिष्ट होता है। आदर्शप्रिय एवं संवेदनशील यही लोग अन्याय-अविचार-वैषम्य के विरुद्ध प्रज्वलित हो उठते हैं; किसी महत् उद्देश्य हेतु यही लोग निःसंशय होकर प्राणदान करने को कूद पड़ते हैं। साठ के दशक में रंगीन विप्लवरूपी यज्ञ के खूँटे में सद्यः बलि ये ही थे। स्वार्थसिद्धि में रत राजनीतिकों की लोलुप दृष्टि आज इनकी ओर ही है। इस युव-समाज की यथार्थ स्थिति शुभसूचक नहीं है। शहरों एवं गाँवों की सम्पन्न मध्यमवर्ग की सन्तानें श्रेष्ठ विद्यालयों का प्रांगण पार करके द्रुतगति से आगे की ओर बढ़ रही हैं। तीव्र प्रतियोगिता रहने पर भी इनका मार्ग बहुत कुछ सुगम है। अन्य विद्यार्थियों की भीड़ मध्य एवं निम्न श्रेणी के शिक्षा-प्रतिष्ठानों में है। इन्हीं में से प्रधानतः उद्भूत होते हैं शिक्षित बेकार; और जिन्होंने शिक्षा-प्रतिष्ठानों में प्रवेशाधिकार प्राप्त नहीं किया, उनकी संख्या बहुत बड़ी है। इनमें अन्तर्भुक्त हैं हरिजन एवं गिरिजन युवक, जिन्होंने अपनी दुरवस्था को स्वाभाविक मान लिया है। ये लोग विकास-कर्मयज्ञ के बाहर ही पड़े हुए हैं। युवा-समाज का एक अंश उग्रपंथ का आश्रय लेकर अथवा ड्रग-ड्रिंक्स का शिकार बनकर राष्ट्रीय मूल-स्रोत से विच्छिन्न हो गया है। युवा-समाज के एक छोटे से भाग के अतिरिक्त अधिकांश अपुष्टि एवं अशिक्षा के मध्य से हताशा एवं पश्चात्ताप लिए हुए बालिग हुए हैं। पिछली पीढ़ी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ, सुभाषचन्द्र एवं गाँधी के भावादर्श को वर्तमान पीढ़ी के तरुणों में संचारित करने में असफल हुई है, क्योंकि वह स्वयं इस भावादर्श में अभिस्नात नहीं हो पायी है। विगत पीढ़ी के नेताओं का चरित्र स्वविरोध से भरा है। ये लोग किसी तरह के व्यक्तित्व-प्रतिष्ठान अथवा मूल्यबोध की सृष्टि नहीं कर सकते, जिसके द्वारा परवर्ती पीढी की श्रद्धा आकर्षित की जा सके। भग्नप्राय संयुक्त परिवार की नियमानुवर्तिता, सहनशीलता, सहानुभूति एवं एक-दूसरे के साथ मिलकर चलने की मानसिकता इत्यादि से वर्तमान तरुण समाज वंचित है। तरुण-समाज के सामने है प्राचुर्य की समस्या से उद्भूत पॉप कल्चर जिसने साठवें दशक में उदास 'हिप्पी' की सृष्टि की एवं अस्सी के दशक में हिंस्र 'प्रांक' की। फलस्वरूप तरुण लोग सांस्कृतिक कार्यक्रमों के आवरण में यौनता-वीभत्सता-उन्मत्त नृत्य-गान के सामने बन्धनहीन हो रहे हैं। इसके अलावा विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा उनके लिए नित्य नियमित रूप से परिवेशित हो रहा है—तरह-तरह के नशीले-गीत तथा अफीम मिश्रित पेय-द्रव्य। युवा-समाज आज नाना प्रकार के निहित स्वार्थों का शिकार है। उद्भ्रान्त युवसमाज आज किसी महत् आदर्श को मजबूती से पकड़ नहीं पा रहा है। आदर्श को पकड़ने की उनकी आकांक्षा बुदबुदे की तरह उठ कर विलीन हो जाती है।

जटिल संस्कृति और समस्याओं से आकीर्ण भारतवर्ष में पहली बार विवेकानन्द ही सर्वभारतीय चेतना और यथार्थ देशप्रेम जागृत कर पाये थे। विवेकानन्द ही राष्ट्रीय एकता के प्रतीक, युवा-समाज के ध्रुवतारा हैं। इस सत्य को इतने दिनों बाद समझकर भारत सरकार ने १९८५ ई० में स्वामी विवेकानन्द के जन्मदिन और उसके अनुवर्ती सप्ताह को क्रमशः राष्ट्रीय युवा-दिवस और राष्ट्रीय युवा-सप्ताह के रूप में मनाने का निर्णय लिया। किन्तु इसके द्वारा इन कुछ वर्षों में भी विवेकानन्द-भावना युवा-जीवन के समस्त स्तरों तक पहुँच नहीं पायी है। विवेकानन्दके संबध में थोड़ा सा अध्ययन अनुशीलन करके ही युवा समाज इस विषय में समाज के नेतृवृन्द की आन्तरिकता के अभाव को समझ पा रहा है। वह देख पा रहा है कि विद्वानों की विवेकानन्द-स्तुति केवल ऊपरी है, उसमें हृदय का कुछ भी योग नहीं है। विद्वानों ने विवेकानन्द के मूलभाव को प्रायः जरा भी ग्रहण नहीं किया है एवं उनसे प्राप्त उत्तराधिकार में त्याग, सेवा, सतता, देश-प्रेम आदि विवेकानन्द प्रवर्तित मूल्यबोध तिरोहित हैं—यह वर्तमान पीढ़ी के तरुण देख पा

रहे हैं। इन सभी कारणों से एक ओर चारित्रिक दारिद्र्य तथा दूसरी ओर व्यापक हताशा ने वर्तमान युवा-समाज को प्रायः विपन्न कर डाला है।

इस हताशा से घिरे सुरंग से युवा समाज को बलपूर्वक से बाहर आना होगा। क्षयशील धारा की गति को मोड़कर राष्ट्र की अभिलाषा परिपूरित करने लिए लक्ष्य की ओर अग्रसर होना होगा। विवेकानन्द एक ऐसे महामानव, हैं जिन्होंने राष्ट्र के इतिहास एवं संस्कृति का चिंतन करके देश के सभी स्तरों के मनुष्यों के साथ मिलकर अपनी असाधारण प्रतिभा के बल पर राष्ट्रीय भाव-समुद्र का मंथन किया था और अमृत आहरण किया था। उसी भावामृत से संजीवित होकर युवा समाज को दृढ़ पदक्षेप से आगे बढ़ना होगा। भारत का नभ मंडल, वायुमंडल स्वामीजी के आह्वान से परिपूरित है। अभियंत्रित स्वर में स्वामीजी ने अपने तरुण मित्रों का आह्वान करके कहा है—'हे महाप्राण, उठो, जागो ! जगत दुःख में दग्ध होकर राख हो रहा है—तुम्हें क्या निद्रा शोभा देती है ?' विवेकानन्द रचनावली का पाठ करते-करते तरुण मानो सुन पाते हैं, स्वामीजी कह रहे हैं 'ठाकुर जिस तरह तुमलोगों को प्रेम करते थे, मैं जिस तरह तुमलोगों से प्रेम करता हूँ, तुम भी उसी तरह भारतवासियों को प्रेम करो तो !' यह प्रेम आवेग-उच्छ्वास मात्र ही नहीं है, यह प्रेम दृष्टि को स्वच्छ बनाता है, परिस्थिति का विश्लेषणात्मक मूल्यांकन करने म सहायता करता है, लक्ष्य तक पहुँचने के उपाय का निर्धारण करने की प्रेरणा देता है। इस प्रेम का मूल है आध्यात्मिकता-परिस्रुत शक्ति। विवेकानन्द जीवन-दर्शन का सार-तत्व है शक्ति का जागरण, आत्मिक शक्ति का जागरण। उन्होंने कहा है : हमारे लिए एकमात्र आवश्यकता है बल अथवा शक्ति। शक्ति इस पार्थिव दुःखभोग के लिए एकमात्र महौषध है। दरिद्रगण जब धनिकों द्वारा पददलित होते हैं, तब शक्ति ही दरिद्रों की एकमात्र औषध है। मूर्ख जब विज्ञान द्वारा उत्पीड़ित होता है तब यह शक्ति ही मूर्ख की एकमात्र औषध है और जब पापी लोग दूसरे पापियों द्वारा उत्पीड़ित होते हैं, तब भी शक्ति ही एकमात्र औषध है। (२/११६)सर्वरोगहर इस शक्ति को प्राप्त करने का उपाय है विश्वैक्य, दृढ़ विश्वास और आत्म विश्वास अर्जन। विवेकानन्द-प्रचारित धर्म का सार तत्व इतना ही है। स्वामी विवेकानन्द की भाषा में : 'What is there to be taught more in religion than the oneness of the universe and faith is oneself ?' (II/330) अवश्य, ये दोनों भाव एक-दूसरे के परिपूरक हैं। इस भावना का आश्रय लेकर जीवन निर्मित करना होगा एवं व्यक्तिगत-स्वार्थ-परता से ऊपर उठ कर समाज-कल्याण में आत्म-नियोग करना होगा। स्वामीजी निर्देशित उपर्युक्त शक्ति-विज्ञान का अवलम्बन करके ही युवा समाज को 'Be and make' आदर्श स्थापित करना होगा।

मोटे तौर पर, विवेकानन्द भावादर्श में अभि-स्नात तरुण होंगे शिष्ट, बली, और दृढ़। 'अभी' मंत्र में दीक्षित निर्भीक पुरुष होंगे वे। उनके पास होगा संवेदनशील हृदय, धारण करने योग्य मस्तिष्क और काम करने योग्य हाथ। त्याग और सेवा के आदर्श में उद्बुद्ध ये सभी युवक समाज के वृहत्तर कल्याण के लिए आत्मोसर्ग करेंगे। भारतीय समाज की समस्याओं के फलस्वरूप भोगाधिकार में तीव्र वैषम्य है। मनुष्य-मनुष्य में विभिन्न मात्रा में जैविक अनैक्य स्वाभाविक है। किन्तु प्रत्येक मनुष्य समाज का अंग-प्रत्यंग है। प्रत्येक अंग-प्रत्यग की सबलता और सक्रियता पर समाज-देह का स्वास्थ्य निर्भर है। और कुछ न होने पर भी, समाज के सामूहिक कल्याण के लिए समाज के अंग-प्रत्यंग के भोगाधिकार में साम्य का नितान्त प्रयोजन है। स्वामीजी लिखते हैं— सामाजिक, राजनैतिक तथा आध्यात्मिक—सभी क्षेत्रों में वास्तविक कल्याण की नींव एक ही है, वह है इतना ही जानना कि "मैं और मेरा भाई एक है।" योगाधिकार के वषम्य के निराकरण के लिए चिर अवहेलित, दलित, समाज के निम्न स्तर के मनुष्यों को पहले आधिकार देना

होगा। नारायण-ज्ञान से इनकी सेवा का दायित्व स्वामीजी ने युवकों के हाथ में दिया है। स्वामीजी ने लिखा है : 'I bequeath to you, youngman, this sympathy, this struggle for the poor the ignorant, the oppressed ...Vow, then to deovte your whole life to the cause of three hundred millions, going down and down every day.' (V/16-17) इस महान कर्मयज्ञ के लिए व्यक्तिगत रूप से प्रस्तुति के अतिरिक्त युवकों को संगठित होना होगा। 'भारत का भविष्य' शीर्षक भाषण में स्वामी विवेकानन्द का निर्देश: एकता ही शक्ति का मूल है। अतः भारत का भविष्य उज्ज्वल करने के लिए उसका मूल रहस्य यह ऐक्य ही है। शक्ति-संग्रह है विभिन्न इच्छा-शक्तियों का एकत्र मिलन। एकचित्त होना ही समाज-संगठन का रहस्य है। इन इच्छा शक्ति समूहों का एकत्र सम्मिलन, एक केन्द्रीकरण—यही रहस्य है।' प्रवर्तक युवा-कार्यकर्ताओं को पहले स्वयं संघबद्ध होना होगा। उसके पश्चात पीछे पड़े हुए समाज के निम्न स्तर के युवकों को इस परिवेश के भीतर खींच कर लाना होगा। तभी उन्नयन-आंदोलन जोरदार होगा; शूद्र जागरण सटीक लक्ष्य की ओर परिचालित होगा।

विवेकानंद के 'Be and make' सूत्र को यथार्थ में परिणत करने के लिए युवकों को इतिहास-सजग यथार्थवादी दृष्टि लेकर निष्ठा के साथ विवेकानन्द-का अनुशीलन करना होगा। आजकल के उद्देश्य-प्रेरित विवेकानन्द-भावना के अवमूल्यांकन के संबंध में सजग रहना होगा। इसके साथ ही सचेत रहना होगा अतिभक्ति से निर्मित अतिशय काल्पनिकता अथवा myth के संबंध में।

गहन और व्यापक मनस्विता-परिचायक विवेक-वाणी का कुछ वैशिष्ट्य है। विवेकानन्द का स्वरूप भी अमूर्त वाणी है। उस वाणी में है उनकी उपलब्धि-संजात शक्ति; है विद्युत-शक्ति का तेज। ध्यान देने सेही धारणा होती है। स्वेज नहर में भरी खानों की भाँति विवेकानन्द-भावना भारतीय मानस को परिव्याप्त किये हुए है। तेज संपन्न वह वाणी ऊपरी तौर पर निष्प्रभ प्रतीत होती है, किन्तु थोड़े से संघर्ष अथवा उद्दीपन से भाव का विस्फोरण जगह-जगह हो रहा है, और वह मनुष्य को भावना, प्रेरणा तथा कर्मोद्यम प्रदान करती चल रही है। उस वाणी की झंकार एवं भावों की व्यंजना विस्फुरित हो रही है चिन्तकों के मस्तिष्क में, प्रेमी के हृदय में, कर्मी की भुजाओं में। इसकी परिधि में आ पड़ने पर ही अनुभव होता है, उस वाणी में सदा क्रियाशील प्रचंड विवेकानन्द शक्ति का। याद आती है स्वामीजी की अभय-वाणी—'मा भैः! आमरण कर्म करते जाओ—मैं तुम लोगों के साथ हूँ, और मेरा शरीर छूट जाने पर भी मेरी शक्ति तुम लोगों के साथ कार्य करेगी।'

अग्निगर्भ विवेक वाणी का अनुष्ठान करके, विवेकानन्द-शक्ति से संजीवित होकर आज की युवा-शक्ति विवेकानन्द-परिकल्पित नये समाज का स्वर्णिम भारतवर्ष का निर्माण करेगी। इस उद्देश्य सिद्धि के लिए आवश्यकता है सम्पूर्ण युव-जागरण को। इस अभीप्सित जागरण में सहायक हो पाने पर ही विवेकानन्द-आविर्भाव उत्सव सार्थक हो उठेगा।

श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्

स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी

भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं: श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। ४ : ३९, तथा अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति। ४ : ४० श्रद्धावान् व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करता है, यह कहकर श्रद्धा को ज्ञान प्राप्ति के एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में इंगित किया गया है। सभी ज्ञानी होकर पैदा नहीं होते, और सभी को शास्त्रों द्वारा कहे गये विधि निषेधों की भी जानकारी नहीं होती, पर सभी में न्यूनाधिक मात्रा में श्रद्धा अवश्य होती है। ज्ञान तथा शास्त्रों की जानकारी का सम्बन्ध बुद्धि या मस्तिष्क से होता है जब कि श्रद्धा हृदय या भावना का विषय है। हमारे दैनन्दिन जीवन के अनेक क्रिया-कलाप श्रद्धा अथवा विश्वास द्वारा ही परिचालित होते हैं। सड़क पर चलते, अगर हमें आगे का रास्ता जानना हो तो हम सड़क पर चल रहे किसी व्यक्ति से या पास के दुकानदार से पूछते हैं। वह जो बताता है उसे हमें श्रद्धापूर्वक मान लेना पड़ता है। बिना श्रद्धा के इस तरह के सामान्य कार्य भी संभव नहीं होते। अपने स्वयं के जन्म के हम स्वयं साक्षी नहीं हो सकते। हमें किसी न किसी की बात पर विश्वास रख, मान लेना पड़ता है कि अमुक हमारे माता-पिता हैं। माता-पिता की अधिकांश बातें बाल्यकाल से ही हम श्रद्धा, विश्वास की सहायता से मानते चले आये हैं, और ये बातें हमारे ज्ञानार्जन का आधार बनी हैं। इस तरह श्रद्धा हमारे सामान्य दैनन्दिन जीवन का आधार तो है ही, वह आध्यात्मिक जीवन का भी आधार है। यही कारण है कि गीता में एक पूरा अध्याय श्रद्धा के प्रकारों के विवेचन के लिए रखा गया है।

अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं कि तीन प्रकार की स्वभावजा श्रद्धा होती है। स्वभावजा शब्द ही इस बात की ओर इंगित करता है कि श्रद्धा सभी में स्वाभाविक है तथा पात्र भेद तथा श्रद्धा के विषय के भेद से सात्विक, राजसिक और तामसिक, इन तीन प्रकारों की होती हैं। लेकिन ये तीनों श्रद्धाएँ शास्त्रविधि रहित हैं, जैसा कि अर्जुन के प्रश्न से सूचित होता है; 'ये शास्त्र विधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।" लेकिन जिस श्रद्धा से ज्ञान लाभ होता है, वह शास्त्र सम्मत, शास्त्र में श्रद्धा, होनी चाहिए। ऐसी ज्ञानोपयोगी श्रद्धा की परिभाषा शंकराचार्य ने निम्न प्रकार से की है: "शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्यबुध्यावधारणम्।" अर्थात् शास्त्र और गुरुवाक्य को सत्य मानकर बुद्धि में अवधारित करना श्रद्धा है।

यह तो स्पष्ट ही है कि सभी मनुष्यों में श्रद्धा किसी न किसी रूप में रहती है, और व्यक्ति की पहचान भी उसकी श्रद्धा से ही होती है: "यो यच्छ्रधः स एव सः।" लेकिन ज्ञान-साधन रूप श्रद्धा का विशेष महत्व है। श्रद्धा हमारे मानसिक अन्तर्द्वन्दों, एवं संशयों को दूर कर इनके द्वारा नष्ट हो रही मानसिक ऊर्जा को संचित रखती है। जैसा कि गीता में कहा गया है: "अज्ञश्चाश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति।" अश्रद्धालु व्यक्ति संशययुक्त होता है। लेकिन जिज्ञासा श्रद्धा की विरोधी नहीं है। विषय को समझने के लिए गुरु से प्रश्न अवश्य किया जाना चाहिए, "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया" लेकिन श्रद्धा के अभाव में तो गुरु से प्राप्त ज्ञान भी फलीभूत नहीं हो सकता।

शास्त्र व गुरु के वाक्य को सत्य मानना—श्रद्धा की इस परिभाषा से ऐसी धारणा हो सकती है कि श्रद्धा का विचार अथवा ज्ञान से कोई सम्बन्ध ही

नहीं हैं। एक अन्य परिभाषा के अनुसार ज्ञान एवं जिज्ञासा के आधार पर श्रद्धा के तीन प्रकार हो सकते हैं।

श्रद्धा सा सात्विकी ज्ञेया विशुद्धज्ञानमूलिका
प्रवृत्ति-मूलिका चैव जिज्ञासा मूलिकाऽपरा।
विचारहीन-संस्कार-मूलिका त्वान्तिमा मता॥

अर्थात् विशुद्ध ज्ञान मूलक श्रद्धा सात्विक है। जिज्ञासा और प्रवृत्ति मूलक श्रद्धा राजसिक तथा विचारहीन संस्कारमूलक श्रद्धा तामसिक होती है।

प्रत्येक व्यक्ति में सर्वप्रथम विचारहीन संस्कार-मूल श्रद्धा ही विद्यमान रहती है, पर जिज्ञासा के उदय होने पर वह राजसिक एवं ज्ञान होने पर सात्विक हो जाती है।

श्रद्धा से वीर्य या उत्साह होता है, तथा यही श्रद्धा एक मुमुक्षु साधक की जननी की तरह रक्षा करती है। जिस विषय में जिसकी श्रद्धा नहीं होती उस विषय में उत्साह नहीं होता। श्रद्धा का भाव रहने से श्रद्धय विषयों के प्रति आकर्षण बना रहता है। और उसके गुण समूह आविष्कृत होते जाते हैं। केवल उत्सुकता पूर्वक किसी विषय का ज्ञान प्राप्त हो सकता है लेकिन ऐसा ज्ञान केवल औत्सुक्य-निवृत्ति करता है। लेकिन जिस ज्ञानार्जन क्रिया के साथ चित्त की प्रसन्नता या संप्रसाद रहता है, वही सात्विक श्रद्धा है। अतः श्रद्धा को ज्ञानार्जन का एक प्रमुख आधार स्तम्भ माना गया है।

श्रद्धा मानसिक बल का एक लक्षण भी है। श्रद्धावान व्यक्ति जीवन के घात-प्रतिघातों में आसानी से विचलित नहीं होता। वह यम का भी सामना करने में समर्थ हो जाता है। यह बात कठोपनिषद् में एक उपाख्यान के माध्यम से बड़े सुन्दर ढंग से समझायी गयी है।

नचिकेता की श्रद्धा—

कठोपनिशद् के प्रारंभ में यम और नचिकेता के वार्तालाप की पृष्ठभूमि के रूप में एक छोटी सी कहानी कही गयी है। नचिकेता के पिता एक यज्ञ करते हैं और अच्छी दुधारू गायों के बदले बन्ध्या, वृद्धा और दुग्धहीन गायों को दान देते हैं। मानव मन सर्वदा, सर्वत्र एक सा ही होता है, चाहे वह औपनिषदिक काल ही क्यों न हो। हम निकृष्ट का दान कर श्रेष्ठ फल पाना चाहते हैं और इस तरह स्वयं तथा दूसरों को छलना चाहते हैं। नचिकेता के पिता भी इस मनोवृत्ति के अपवाद नहीं थे। वे स्वर्ग में सुख पाने की महान् अभिलाषा से ऐसा एक यज्ञ करते हैं। जिसमें सर्वस्व समर्पण करना होता है। उनके किशोर पुत्र नचिकेता ने जब यह देखा कि वे सर्वस्व त्याग का संकल्प लेकर भी केवल निकृष्ट का ही दान कर रहे हैं तो उनके मन में श्रद्धा का आवेश हुआ।

उपनिषद में इस शब्द "श्रद्धा" का विस्तार नहीं किया गया है। संभवतः उपनिषद् प्रणेता ऋषि यह मानकर चल रहे हैं कि श्रद्धा का अर्थ और महत्व सर्वविदित है। वस्तुतः श्रद्धा आदि मूल्य उस काल की वैदिक संस्कृति का अभिन्न अंग बन चुके थे। लेकिन हमारे लिए यह उचित होगा कि हम इस छोटे से तथा सहज भाव से प्रयोग किए गये शब्द के महत्व पर गहराई से विचार करें। स्वयं स्वामी विवेकानन्द ने इस पर अत्यधिक बल दिया है। "नचिकेता की सी श्रद्धा" स्वामीजी का प्रिय वाक्य था। वे भारत के युवकों में इसी "नचिकेता की सी श्रद्धा" को चाहते थे। शंकराचार्य ने अपने भाष्य में श्रद्धा को "आस्तिक्य बुद्धिः पितुः हितकाम प्रयुक्ता" अर्थात् पिता की हितकामना से प्रयुक्त आस्तिक्य बुद्धि कहा है।

श्रद्धा के वास्तविक तात्पर्य का कुछ संकेत हमें कठोपनिषद् से भी प्राप्त होता है। कठोपनिषद् के तीसरे श्लोक में कहा गया है कि नचिकेता ने विचार किया कि इस तरह के निकृष्ट दान से स्वर्ग की प्राप्ति तो होती नहीं, बल्कि अन्धकारमय आनन्दरहित दुखपूर्ण नारकीय लोकों की प्राप्ति होती है। निश्चय ही यह ज्ञान नचिकेता क

शास्त्रों से प्राप्त हुआ था, और इस बात को वे निर्विवाद सत्य मानते थे। इसी को शंकराचार्य ने आस्तिक्य बुद्धि कहा है। अन्तःकरण की निश्चयात्मिकावृत्ति को बुद्धि कहते हैं। और इस निश्चय या सत्यरूप से अवधारणा की पराकाष्ठा ही उस विषय-विशेष के साक्षात्कार का रूप ले लेती है। बालक नचिकेता के शुद्ध सरल मन ने उपर्युक्त शास्त्रीय सत्य को स्वीकार नहीं किया था, वे तो मानों अपने पिता को नरक में जाता देख रहे थे। उनकी यह दृढ़ श्रद्धा अनुभूति में परिणत हो चुकी थी। अतः उन्हें अपना कर्त्तव्य निर्धारित करने में देर न लगी और वह था पिता के प्रति पुत्र का कर्त्तव्य—पिता को दुःख-कष्ट से बचाना।

यहाँ हमें नचिकेता के एक और सद्गुण की झलक प्राप्त होती है। पिता से जाकर कहना कि आप शास्त्र विरोधी कार्य कर रहे हैं, तथा इसके परिणाम स्वरूप आपको नर्क का कष्ट भोगना होगा, शील और सौजन्य का विरोधी होता। यही नहीं, यदि वे ऐसी बात पिता को कहते तो प्रतिक्रिया प्रतिकूल होने की संभावना थी। अतः वे पिता के पास जाकर कहते हैं कि आप मुझे किसको दान करेंगे। सर्वस्वदान के व्रत में पुत्र भी पिता की सम्पत्ति होने के कारण दातव्य है। नचिकेता का विचार यह था कि ऐसा कहने पर पिता को यह स्मरण हो आयेगा कि उन्हें श्रेष्ठ वस्तुओं का, जिसमें पुत्र सर्वश्रेष्ठ है, दान करना होगा और तब वे वृद्ध दुग्ध रहित गायों के बदले अच्छी दुधारू गायें दान करेंगे। इस तरह हम देखते हैं कि नचिकेता में कटुसत्य का पालन करते हुए भी शील और सौजन्य का अभाव नहीं है। बालक होते हुए भी वह चतुर है, तथा पिता को किंचित मात्र भी ठेस नहीं पहुँचाना चाहता। लेकिन उसके पिता पर आशोचित प्रभाव नहीं पड़ा। एक दो बार तो उन्होंने निर्लज्ज बालक की हठधर्मिता की उपेक्षा की, पर जब तीसरी बार बालक ने वही बात दुहरायी तो पिता ने क्रुद्ध होकर कह दिया—

"जा, मैंने तो तुझे मृत्यु को दिया।"

पिता द्वारा शापित होने पर नचिकेता के मन में जो विचार उठे, वे श्रद्धा के एक और पक्ष को प्रदर्शित करते हैं। वे सोचने लगे—

"बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।
किस्विद् यमस्य कर्त्तव्यं यन्मयाऽद्य करिष्यति॥

अर्थात् मैं बहुतों में (बहुत से बालकों में) प्रथम आता हूँ, बहुत से बालकों में मध्यम आता हूँ लेकिन कभी भी अधम नहीं होता। तब फिर यम का ऐसा कौन सा कार्य है, जो पिताजी आज मुझसे करवायेंगे? नचिकेता का यह चिन्तन उनके आत्मविश्वास को प्रदर्शित करता है। मैं हीन नहीं हूँ, अधम पापी नहीं हूँ, मैं कुछ कर सकने की सामर्थ्य रखता हूँ, मैं तत्वज्ञान का अधिकारी हूँ, इस तरह का आत्म-विश्वास श्रद्धा का अंग है। शास्त्र एवं गुरुवाक्य में श्रद्धा हो, लेकिन स्वयं में विश्वास न हो, तो इस प्रकार की श्रद्धा फलवती नहीं हो सकती। आखिर शास्त्र एवं गुरु के आदेशों का क्रियान्वयन तो स्वयं को ही करना होगा। शास्त्र व गुरुवाक्यों में श्रद्धा की सार्थकता आत्मविश्वास के कारण ही है। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द कहते है कि सैकड़ों देवी देवताओं में विश्वास होते हुए भी यदि किसी व्यक्ति में अपने आप में विश्वास नहीं, तो वह नास्तिक, श्रद्धाहीन ही है। नचिकेता में तो यमराज का सामना करने की भी सामर्थ्य एवं साहस था।

शास्त्रों में दृढ़ विश्वास, एवं पिताजी के प्रति गहरी प्रीति से युक्त बालक नचिकेता ने यमराज के पास जाने का निश्चय कर लिया क्योंकि वह पिता के वचन की सत्यता की भी रक्षा करना चाहता था। इधर, क्रोध शान्त होने पर आवेग और असावधानी में दिये गये अपने आदेश के लिए नचिकेता के पिता अनुतप्त होने लगे, क्योंकि वे भी तो पुत्र को स्नेह करते थे। पिता को इस तरह अफसोस करते देख नचिकेता ने उन्हें जो कहा, वह

नचिकेता की बुद्धिमत्ता का परिचायक होने के साथ ही साथ श्रद्धा के तीसरे पक्ष को प्रकट करता है।

अनुपश्य यथापूर्वे प्रतिपश्य यथापरे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवा जायते पुनः॥

अपने पूर्वापर पूर्व पुरुषों के सत्यनिष्ठ आचरण को देखिए, (और तद्नुरूप शोक-मोह त्यागकर मुझे यम के पास जाने की आज्ञा दीजिए।) आखिर मरणधर्मा मानव तो धान की तरह पकता और पुनः उत्पन्न होता रहता है। नचिकेता ने पूर्वजों के सत्यनिष्ठ आदर्श जीवन को पिता के सम्मुख प्रमाण स्वरूप रखा। यह उसकी अपने पूर्वजों में श्रद्धा का द्योतक है। स्वामी विवेकानन्द ने भारत वासियों में आत्मविश्वास जगाने के साथ ही साथ उन्हें अपनी उज्ज्वल पुरातन परंपराओं में गौरवान्वित होना भी सिखाया है। वे भारत वासियों को बार-बार याद दिलाते थे कि वे ऋषियों की सन्तान हैं। पुरातन परम्परा में विश्वास व्यक्ति को अपने जीवन गठन के लिए सुदृढ़ मूल या नींव प्रदान करता है।

संक्षेप में श्रद्धा का पूर्ण अर्थ होगा, अपने आप में विश्वास, गुरु एवं शास्त्र वाक्यों में सत्यत्व एवं अपने पूर्व पुरुषों एवं परम्पराओं में गौरव बोध।

श्रद्धास्वरूपिणी पार्वती—

शिव व पार्वती को क्रमशः विश्वास और श्रद्धा का घनीभूत विग्रह माना जाता है।

"भवानी शंकरौ बन्दे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ। श्रद्धास्वरूपणी जगदम्बा पार्वती की कथा के माध्यम से श्रद्धा का समग्र रूप अच्छी तरह से समझा जा सकता है। कथानक के अनुसार नारद के द्वारा पार्वती को यह निर्देश मिलता है कि वे शिव को पति के रूप में पाने के लिए तप करें। पार्वतीजी कठोर तप प्रारंभ कर देती है। तदनन्तर साप्तर्षि (अन्य वर्णन के अनुसार स्वयं शिव) उनकी परीक्षा के लिए आते हैं, तथा शिवजी के दोष दिखाकर उन्हें तप से विरत करने तथा विष्णु को वरण करने का सुझाव देते हैं। रामचरितमानस में वर्णित पार्वतीजी का सप्तर्षियों को दिया गया उत्तर श्रद्धा के स्वरूप तथा प्रभाव का अत्यन्त सुन्दर दिग्दर्शन कराता है।

सर्वप्रथम तो पार्वतीजी स्वयं बुद्धि की जड़ता तथा नारद के कथन को सत्य स्वीकार करने की बात दुहराती हैं। शिवजी की प्राप्ति उसी प्रकार असाध्य है जैसे बिना पंख उड़ना या पानी पर दीवार बनाना। इस प्रकार स्वयं की जड़ता, हठ तथा लक्ष्य की असाध्यता का उल्लेख कर पार्वतीजी तर्क का माग बन्द कर देती हैं। तर्क को शास्त्रों में अप्रतिष्ठ माना गया है। "तर्काप्रतिष्ठानात्"। तर्क द्वारा एक बात को सत्य और असत्य दोनों ही सिद्ध किया जा सकता है। अगर तर्क का कोई श्रद्धा-विश्वास परक आधार न हो, किसी मूल बात को मानकर न चला जाय, तो वह किसी भी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकता। श्रद्धा का स्वरूप तर्क से बिल्कुल विपरीत है। वह किसी बात को सर्व प्रथम सत्य रूप से स्वीकार करती है। साधक स्वयं की अल्प बुद्धि को साधना या जीवन का आधार नहीं बना सकता। अतः वह अन्य किसी के उपदेशों में श्रद्धा रखकर साधना का प्रारंभ करता है। ये ही शास्त्र या गुरु के उपदेश उसके जीवन के आधार स्तंभ बनते हैं।

पार्वतीजी लोगों द्वारा अपनी निन्दा व स्तुति की भी उपेक्षा करती हैं। सप्तर्षि का यह कथन कि तुम्हारा इष्ट एवं गुरु का चयन गलत हुआ है, तुम मूर्ख हो, इत्यादि उन्हें विचलित नहीं करता। श्रद्धालु साधक में निन्दा स्तुति रूप व्यवधानों का सामना करने की क्षमता आ जाती है। वह लोक दिखावे के लिए दूसरे किसी के अनुमोदन के लिए साधना नहीं करता। दूसरों के कथन के आधार पर स्वयं के कार्य का मूल्यांकन करने की बनिया-वृत्ति उसमें नहीं होती। वह तो केवल साध्य की प्रियता के लिए कर्म करता है। वह तो पार्वती की तरह नम्र होते हुए भी दृढ़ है, तथा एक बार

जिस गुरु तथा इष्ट को स्वीकार कर लिया है, उसे किसी भी हालत में छोड़ना नहीं चाहता।

श्रद्धा साधक को असंभव को सम्भव करने की क्षमता प्रदान करती है। वह स्वयं की क्षमता एवं पुरुषार्थ से अधिक प्रभु एवं गुरु की कृपा पर निर्भर करना सिखाती है। आध्यात्मिक साधना का पथ तो मानो पानी पर दीवार बनाने के समान असंभव है। "चहत बारि पर भीति उठावा।" कठोपनिषद में उसे तलवार की धार पर चलने के समान कहा गया है: "क्षुरस्यधारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथः।" लेकिन वहाँ पर चलने की मनाही नहीं की गयी है। उसके उपाय के रूप में महापुरुषों से उपदेश प्राप्त करने की बात अवश्य कही गयी है। "प्राप्त वरान्निबोधत"। पार्वतीजी ने भी कार्य की कठिनाई से भयभीत न होकर गुरु के निर्देशों का पालन किया था। उनका दृष्टिकोण तो यह था कि गुरु व ईश्वर की कृपा पंखहीन दुर्बल साधक के दो पंख बन जाते हैं।

सप्तर्षि के परिहास से, उनके द्वारा साधना की कठिनाई का भय, तथा शिव से श्रेष्ठ लक्ष्य का प्रलोभन दिखाये जाने पर भी शैलजा अडिग रहती हैं। यह श्रद्धा के सच्चे स्वरूप का परिचायक है। सभी साधना पद्धतियों में गुण-दोष रहते हैं। मगर साधक गुण दोष देखता रहे तो वह कुछ भी नहीं कर सकेगा। प्रलोभन, भय आदि बाधाएँ साधना में प्रगति की ही द्योतक हैं। लेकिन इन्हें बाधा मानकर आगे बढ़ना चाहिए। साध्य के अतिरिक्त कोई भी वस्तु चाहे वह कितनी भी महान क्यों न हो, बाधक है। इन बाधाओं से निकलने पर ही साधक अग्नि में तपाये सोने की तरह उज्ज्वल हो जाता है। अविचल निष्ठा रूपी पर्वत से उत्पन्न शैलजा ही श्रद्धा हैं,जो तपरूपी अग्नि में तपाये जाने पर म्लान होने के बदले और अधिक चमकती हैं। पार्वती रूपी सुवर्ण को परीक्षा रूपी हथौड़ों से आभूषण का रूप दिये जाने पर उसे भगवान शिव की प्राप्ति एवं वरणरूप लक्ष्य प्राप्त होता है।

श्रद्धा में दृढ़ता एवं सरसता, कठोरता एवं कोमलता दोनों होती है। वह साधक को समस्त बाधाओं को झेलने की दृढ़ता, अविचल कठोरता प्रदान करती है, पर साथ ही साथ वह लक्ष्य के प्रति अगाध प्रेम एवं भावना से ओत-प्रोत भी बना देती है।

●

प्रत्येक धर्म-साधक एवं अध्यात्म-जिज्ञासु के लिए अवश्य पठनीय पुस्तक

पथ और पाथेय

लेखक—स्वामी ब्रह्मेशानन्द

प्रकाशक—श्रीरामकृष्ण अद्भुतानन्द आश्रम,

जयप्रकाश नगर, छपरा—८४१ ३०१ (बिहार)

पृष्ठ—२०१

मूल्य—१५ रुपये मात्र (डाक खर्च १० रुपये अलग)

अहिंसा के अग्रदूत : भगवान महावीर

—आचार्य विद्यानन्द

यह सुविदित है कि जैन धर्म की परंपरा अत्यन्त प्राचीन है। भगवान महावीर तो अंतिम तीर्थंकर थे। मिथिला प्रदेश के लिच्छवी गणतंत्र से, जिसकी ऐतिहासिकता निर्विवाद है, महावीर का कौटुम्बिक संपर्क था। उन्होंने श्रमण परंपरा को अपनी तपश्चर्या के द्वारा एक नई शक्ति प्रदान की जिसकी पूर्णतम परंपरा का सम्मान दिगम्बर परंपरा में पाया जाता है।

भगवान महावीर तपःप्रधान संस्कृति के उज्ज्वल प्रतीक हैं। भोगों से भरे हुए इस संसार में एक ऐसी स्थिति भी संभव है जिसमें मनुष्य का अडिग मन निरंतर संयम और प्रकाश के सान्निध्य में रहता हो। इस सत्य की विश्वसनीय प्रयोगशाला भगवान महावीर का जीवन है।

जब ग्रीष्म का सूर्य अपनी प्रखर किरणों से जगत को संतप्त कर डालता है, पक्षियों का उन्मुक्त गगन विहार बंद हो जाता है, स्वच्छद विहारी हिरणों की खुले मैदान की आमोदमयी क्रीड़ा रुक जाती है, असंख्य प्राणधारियों की तृषा बुझाने वाले सरोवर सूख जाते हैं, उनकी सरस मिट्टी भी नीरस हो जाती है, जनता का आवागमन अवरुद्ध हो जाता है। प्राणदायक वायु भी तप्त लू बनकर प्राणहारक बन जाती है, समस्त थलचर, नभचर प्राणी असह्य ताप से त्राहि-त्राहि करने लगते हैं। तब जगत की उस व्याकुलता का देखकर प्रकृति करवट लेती है। आकाश में सजल काले बादल छा जाते हैं, संसार का संताप मिटाने के लिए उनमें से शीतल जल-बिंदु टपकने लगते है, भाप के रूप में पृथ्वी से लिये हुए जल ऋण को आकाश सूद समेत चुकाने के लिए जलधारा की झड़ी बांध देता है, जिससे पृथ्वी न केवल अपनी प्यास बुझाती है, अपितु असंख्य व्यक्तियों को प्यास बुझाने के लिए अपना भंडार भी भर लेती है, सभी मनुष्य, पशु-पक्षी आनंद की ध्वनि करने लगते हैं।

इसी तरह स्वार्थ की आड़ में जब दुराचार-अत्याचार संसार में फैल जाता है, दीन-हीन, निःशक्त प्राणी निर्दयता की चक्की में पिसने लगत हैं, रक्षक जन ही उनके भक्षक बन जाते हैं, स्वार्थी दयाहीन मानव धर्म की धारा अधर्म की ओर मोड़ देता, दीन असहाय प्राणियों की करुण पुकार जब कोई नही सुनता तब प्रकृति का करुण स्रोत बहने लगता है। वह ऐसा पराक्रमी साहसी वीर ला खड़ा करती है, जो अत्याचारियों के अत्याचार को मिटा देता है। दीन दुखी प्राणियों का संकट दूर करता है और जनता को सत्य पथ दिखाता है।

अब से २६०० वर्ष पूर्व भारत की वसुंधरा भी पाप भार से कांप उठी थी। जनता जिन लोगों को अपना धर्म गुरु पुरोहित मानती थी, धर्म का अवतार समझती थी, उन्हीं का मुख रक्त-मांस का लोलुप बन गया था। वे अपनी लोलुपता शांत करने के लिए स्वर्ग, राज्य, पुत्र-धन आदि का प्रलोभन देकर भोली अबोध जनता से हवन कराते थे। उनमें निरीह और निरपराध पशुओं की वलि चढ़ायी जाती थी। इस तरह दीन, निर्बल, असहाय पशुओं की करुणाजनक आवाज सुनने वाला कोई न था। उस समय भगवान महावीर का जन्म हुआ।

भगवान महावीर बचपन से ही कुशाग्रबुद्धि, और चतुर थे। बाल्यकाल में भी उनका मन बाल सुलभ मनोरंजनों में नहीं लगता था। उनका

अधिकतर समय विद्याध्ययन के चिंतन और मनन में ही व्यतीत होता था। कुमार अवस्था को पार कर युवावस्था में प्रवेश करने पर भी उनका मन सांसारिक सुखों की ओर नहीं गया संसार के प्राणियों को दुखी देखकर उनका मन व्याकुल रहता था और वे संसार के दुखों के कारण और उनको दूर करने के उपाय खोजने के प्रयत्न में लगे रहते थे। अपना सारा समय इन्हीं प्रयत्नों में लगाने के लिए उन्होंने घर बार छोड़कर साधु जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया। माता की ममता और पिता का प्यार भी उनको अपने मार्ग से विचलित न कर सके और वह ३० वर्ष की युवावस्था में ही स्व और परकल्याण के मार्ग पर अग्रसर हो गये। वे बारह वर्ष तक घोर तपस्या और चिंतन व मनन करते रहे। परिणामतः बयालीस वर्ष की अवस्था में उन्हें पूर्ण ज्ञान प्राप्त हुआ।

पूर्ण ज्ञान के पश्चात जब तीर्थ कर महावीर का मर्मस्पर्शी उपदेश जनता ने सुना तो धर्म का सुन्दर सत्य स्वरूप उसे ज्ञात हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि पशु यज्ञ के विरोध में एक व्यापक लहर फैल गयी। यज्ञ करने वाले यजमानों के हृदय में उल्लेखनीय परिवर्तन आया और वे पशु यज्ञ के हिंसक कृत्य से घृणा करने लगे। इस प्रकार धर्म प्रचार से अहिंसा का प्रभावशाली प्रसार हुआ, पशु यज्ञ होने सर्वत्र बंद हो गये। हिंसा कृत्य और भक्षण से भी जनता घृणा करने लगी। हिंसक लोग तीर्थंकर महावीर के उपदेश सुनकर स्वयं अहिंसक बन गये।

भगवान महावीर ने अनेकांत और स्याद्वाद के सिद्धांत पर व्याख्या करते हुए कहा कि जानने और कहने में बहुत भारी अंतर है, क्योंकि जितना जाना जा सकता है उतना कहा नहीं जा सकता। इसका कारण यह है कि जितने ज्ञान के अंश हैं, उन ज्ञान अंशों के वाचक न तो उतने शब्द ही हैं और न ही उन सब ज्ञान अंशों को कह डालने की शक्ति जीभ में है। एक साथ जानी हुई बात को ठीक उसी रूप में एक साथ कह सकना असंभव है। एक समय में उसकी एक ही बात कही जाती है, उस समय उसकी अन्य बातें कहने से छूट जाती हैं, किंतु वे अन्य बातें उसमें होती अवश्य हैं।

किसी सुन्दर उद्यान का एक दृश्य देखकर उस बगीचे के विषय में एक ही मिनट में जो ज्ञान हुआ उस सब को कहने में अनेक मिनट ही नहीं अपितु अनेक घंटे लग जाएँगे क्योंकि जिन सब बातों को नेत्रों ने एक मिनट में जान लि : है, उनको जीभ एक साथ कह नहीं सकती। उन बातों को क्रम से एक-एक करके कहा जा सकेगा। इसी कारण ग्रंथकारों ने लिखा है कि सर्वज्ञ अपने ज्ञान द्वारा जितना जानता है, उसक सहस्रवाँ भाग ही वाणीसे कहा जा सकता है जिसका कहा जा सकता है। उसका सहस्रवाँ भाग ही शास्त्रों में लिखा जाता है। वीतराग का ज्ञान अनंत है जो किसी भी सीमा परिधि में बांधा नहीं जा सकता है।

तुम सब कुछ कर सकते हो, तुम सर्वशक्तिमान हो। —स्वामी विवेकानन्द

पहले एकान्त में बैठकर धर्मजीवन को अच्छी तरह गढ़ लेना होगा। - स्वामी विवेकानन्द

एक अविस्मरणीय घटना

लेखिका—डॉ० नन्दिता भार्गव
अजमेर (राजस्थान)

यह प्रसंग उस समय का है जब विश्व विख्यात स्वामी विवेकानन्द सम्बलहीन, दण्ड कमण्डलु धारी परिव्राजक संन्यासी के वेश में बराहनगर मठ से सन् १८९० ई० में तपस्या करने के लिए निकल पड़े थे। कुछ समय उन्होंने कतिपय गुरु भाइयों के साथ, अलमोड़ा, ऋषिकेश, कनखल, मेरठ आदि स्थानों में कठोर तपस्या में व्यतीत किया। इन्हीं दिनों, उन्होंने अपने भीतर एक महाशक्ति का स्फुरण अनुभव किया। उन्हें अपने जीवन के महान कर्तव्य के सम्बन्ध में संकेत प्राप्त हुआ। संकल्प में दृढ़ हो स्वामीजी ने अपने अपने गुरु भाइयों से कहा—अब से मैं निःसंगा रहूँगा, तुम लोग मेरा साथ छोड़ दो।

स्वामीजी ने गुरु भाइयों का कोई अनुरोध नहीं सुना। १८९१ ई० की जनवरी के अन्तिम भाग में, अकेले ही वे परिव्राजक के रूप में निकल पड़े। दिल्ला से पैदल चलते-चलते परम गरिमामयी वीर प्रसूता भूमि राजस्थान में फरवरी के महीने में वे आ पहुँचे। अलवर, जयपुर इत्यादि होते हुए नवम्बर के महीने में अजमेर आये। यह स्वामीजी का अजमेर में प्रथम पदार्पण था।

तीर्थराज पुष्कर अजमेर से जाना पड़ता है। प्राचीन काल से तीर्थयात्री चाहे वे संन्यासी हों अथवा गृहस्थ, भारत के दूर-दूर प्रान्तों से अजमेर आते रहे। यहाँ से पुष्कर जाने के लिए सवारी प्राप्त होती है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में रेल मार्ग के बिछाये जाने के बाद दिल्ली तथा जयपुर से गुजरात, महाराष्ट्र तथा पश्चिमी मध्य प्रदेश की ओर जाने के लिए अजमेर से होकर ही जाना पड़ता था। अंग्रेजी राज्य होने के कारण यहाँ आवागमन की जो सुविधाएँ थी, वे राजस्थान के अन्य भागों में उपलब्ध नहीं थी। अतः स्वामीजी भी इसी उद्देश्य से यहाँ आये होंगे।

अप्रैल के महीने के किसी एक दिन, जब स्वामीजी पहली बार अजमेर आये, तब लेखिका के ताऊजी स्वर्गीय अमरनाथ चट्टोपाध्याय को उनके चरण कमलों में बैठने का तथा उनके स्नेहाशीर्वाद प्राप्त करने का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उन दिनों आगरे की ओर से रेलगाड़ी जयपुर होती हुई दिन के मध्य भाग में अजमेर आ पहुँचती थी। बहुधा उसमें वृन्दावन तथा अन्यान्य स्थानों की ओर से, पुष्कर जाने के लिए, बंगाल प्रान्त के साधु वैष्णवगण आते थे। जिस स्थान पर पुष्कर जाने के लिए बैलगाड़ियों की सवारियाँ प्राप्त होती थी, वहाँ एक बड़ा सा मैदान था (यह स्थान घास कटला के नाम से जाना जाता है और अभी भी वहाँ पर थोड़ा सा खुला हुआ स्थान है अतः यात्री वहीं आकर सवारी की प्रतीक्षा करते थे।

उसी स्थान के समीप मदन गोपाल दे विश्वास नामक बंगाली सज्जन रहते थे। विश्वास महाशय की परम भक्तिमती स्त्री सुदूर बंगाल से आ रहे साधु वैष्णवों को भोजन करवातीं तथा उनके अन्यान्य सुख-सुविधा की व्यवस्था करती थीं। वह नित्य ही, आगरा से आने वाली गाड़ी की प्रतीक्षा करती थी और यह देख लेने के पश्चात् ही कि कोई साधु है कि नहीं, वह स्वयं आहार करने बैठतीं थी। विश्वास की धर्मपत्नी का यह नित्य का ही नियम था। ऐसे ही एक दिन दोपहर को विश्वास-पत्नी यह सोच कर कि गाड़ी तो आ पहुँची है और पुष्कर की ओर जाने वाले यात्री भी मैदान में एकत्रित हो रहे हैं, किन्तु आज कोई साधु सन्त नहीं आया है, आहार के लिए बैठने ही

वाली थीं कि उनके मन में आया कि एक बार पुनः झाँक कर देख लेना उचित होगा। जैसे ही वे बाहर की ओर गयीं तो देखा कि एक अद्भुत व्यक्तित्व वाले तरुण बंगाली संन्यासी पुष्कर गामी यात्रियों में बैठे हैं। उन्होंने तुरन्त स्वामीजी को बुलवा लिया और उनके स्नान-भोजन कीव्यवस्था की। विश्वास परिवार जिस मोहल्ले में रहते थे वह घोषी मोहल्ला के नाम से जाना जाता था।

विश्वास महाशय और उनकी पत्नी स्वामीजी से प्रभावित हो गये। बातचीत के बाद उन्हें यह भी मालूम हुआ कि स्वामीजी उनके आत्मीय हैं। उन्होंने स्वामीजी को, पुष्कर जाने से पूर्व, उनके निवास स्थान में कुछ दिन विश्राम करने का आग्रह किया। उनके आग्रह को देखकर स्वामीजी वहाँ चार दिन ठहर गये। उन दिनों अजमेर में मात्र चार बंगाली परिवार रहते थे। शीघ्र ही सभी को सूचना मिल गयी कि एक विशाल हृदय तरुण संन्यासी आये हैं। अतः सभी उनके पास आ पहुँचे। तीन चार दिन तक विश्वास-गृह मानो एक आनन्द उत्सव से मुखरित हो उठा। स्वामीजी कभी अपने स्वर्गीय सुमधुर कण्ठ से भजन गाते, कभी धार्मिक चर्चा करते तो कभी प्रवासी बंगालियों की आर्थिक-सामाजिक समस्याओं पर चर्चा करते। इन्हीं समस्याओं की चर्चा करते समय स्वामीजी ने खेद प्रकट करते हुए कहा कि भारत के सर्वत्र तीर्थ स्थानों में विभिन्न प्रान्तों के निवासियों ने तीर्थयात्रियों की सुविधा के लिए धमशालाएँ बनवायी हैं यथा मारवाड़ी धर्मशाला, गुजराती धर्मशाला, पंजाबी धर्मशाला, नेपाली धर्मशाला आदि। परन्तु बंगाली जन इस दिशा में बिल्कुल उदासीन हैं। यदि प्रवासी बंगालियों की चेष्टा से अजमेर में धर्मशाला बन जाये तो सैकड़ों तीर्थ यात्रियों को सुख सुविधा प्राप्त होगी। स्वामीजी की यह बात अमरनाथ को सदा स्मरण रही। इस घटना के बहुत वर्षों के बाद, नौकरी से अवसर ग्रहण करने के उपरान्त, उन्होंने अजमेर तथा पुष्कर में धर्मशालाएँ बनवाने का संकल्प किया। अमरनाथ ने अजमेर के बंगालीजनों की एक धर्मशाला कमेटी बनवायी। अथक परिश्रम कर सैकड़ों लोगों से चन्दा एकत्रित कर २० वीं शताब्दी के दूसरे दशक में एक धर्मशाला अजमेर में बनवा ही ली। स्वामी विवेकानन्द के श्रीमुख से निस्सृत वाणी को साकार रूप मिला। अजमेर में धर्मशाला बनवाने के बाद अमरनाथ चट्टोपाध्याय ने चन्दा एकत्रित करके पुष्करमें ब्रह्माघाट के समीप भी एक बंगाली धर्मशाला बनवायी। यह कार्य स्वामीजी से प्रेरणा और दिशा प्राप्त करके ही अमरनाथ ने किया था। ये धर्मशालाएँ स्वामीजी की ही मनोकामना की पूर्ति रूप हैं।

१८९१ ई० के नवम्बर के महीने में जब स्वामीजी दूसरी बार अजमेर आकर दीवान हर विलास सारदा नामक प्रसिद्ध समाज सेवी की कोठी में ठहरे थे तो उस समय घोषी मोहल्ला और उसके आस पास रह रहे लोगों को उनके दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

अमेरिका से लौटने के पश्चात् स्वामीजी खेतड़ी में कुछ समय ठहरने के बाद जब जोधपुर, इन्दौर, खण्डवा आदि की ओर जा रहे थे तो जनवरी १, १८९८ ई० को वे जयपुर से रेलगाड़ी द्वारा रवाना हुए। यह रेलगाड़ी अजमेर से होती हुई जाती थी। जब यह शुभ समाचार अजमेर वासियों को प्राप्त हुआ कि विश्ववरेण्य स्वामी विवेकानन्द की गाड़ी अजमेर स्टेशन से गुजर रही है, तो प्रातः से ही स्टेशन जन सामान्य से भर गया। अमरनाथ भी अपने प्रिय स्वामीजी के दर्शनार्थ स्टेशन पहुँचे।

जब अमरनाथ स्टेशन पहुँचे तो "प्लेटफार्म" स्वामीजी के प्रशंसकों से खचाखच भरा हुआ था। नगर के लगभग दो सौ से अधिक विशिष्ट व्यक्ति फूल मालाएँ लेकर उत्सुकता से स्वामीजी की गाड़ी की प्रतीक्षा कर रहे थे। भीड़ के कारण

अमरनाथ को "प्लेटफार्म" में खड़े तक होने का स्थान न मिलने पर वे स्टेशन के ही एक ऐसे स्थान के 'टिन-शेड" पर चढ़ कर खड़े हो गये जहाँ से चलती गाड़ी में भी उन्हें स्वामीजी भलीभाँति दिख सकते थे। उस समय अमरनाथ मन ही मन सोच रहे थे कि स्वामीजी अमेरिका से लौटे हैं। अब वे विश्व विख्यात हैं। कितने ही राजा महाराज उनके स्वागत हेतु दण्डायमान रहते हैं। अजमेर स्टेशन ही नगर के विशिष्ट व्यक्तियों से भरा हुआ था तो क्या स्वामीजी उनके समान एक अकिंचन व्यक्ति को अब पहचान पाएँगे ? वे यही सब सोच ही रहे थे कि स्वामीजी की गाड़ी उस "टिन-शेड" के सामने से निकली और स्वामीजी ने उस अपार भीड़ में भी अमरनाथ को देख लिया। स्वामीजी ने अमरनाथ को केवल पहचाना ही नहीं, परन्तु उनका नाम लेकर पुकारा——"अमरनाथ——अमरनाथ—"और मधुर मुस्कान सहित हाथ भी हिलाते रहे। यह देख आश्चर्य चकित अमरनाथ अभीभूत हो गये। यह अनमोल क्षण-यह मधुर स्मृति उनके हृदय में सदा-सदा के लिए अंकित हो गयी। मृत्यु पर्यन्त वे उस पवित्र दिन की अविस्मरणीय घटना को बारम्बार स्मरण करके सबको बतलाते रहे-वह दिन, वह घड़ी, जब ठाकुर के प्रिय नरेन ने उन्हें भीड़ में भी पहचान लिया और हाथ हिलाते हुए आवाज़ दी थी—
अमरनाथ-अमरनाथ।

विवेक शिखा—स्थायी कोष के दाता

१.	एक भक्तिमती महिला	—	इलाहाबाद	३,९९० रुपये
२.	एक शुभैषी	—	पुणे	२०० रुपये
३.	श्री एस० के० चक्रवर्ती	—	इलाहाबाद	२७ रुपये
४.	श्री पृथ्वीराज शर्मा	—	ठण्डी, राजस्थान	२०० रुपये
५.	श्री दीपक श्रीवास्तव	—	पटना (बिहार)	१०१ रुपये
६.	एक शुभ चिन्तक	—	इलाहाबाद	२५० रुपये
७.	भी० बी० उरकुडे	—	चन्द्रपुर (महाराष्ट्र)	५० रुपये
८.	श्रीमती शान्ति देवी	—	इन्दौर (मध्य प्रदेश)	१०० रुपये
९.	श्री एस० डी० शर्मा	—	अहमदाबाद	३०१ रुपये
१०.	श्रीमती प्रभा भार्गव	—	बीकानेर (राजस्थान)	२०० रुपये
११.	श्री रामलायक सिंह	—	सम्होता (छपरा)	२५ रुपये
१२.	डा० एस पी० भार्गव	—	अजमेर	१०० रुपये
१३.	श्री राम छविला सिंह	—	मुजफ्फरपुर	२५ रुपये
१४.	श्री निखिल शिवहरे	—	दमोह (म० प्र०)	१५१ रुपये
१५.	श्रीमती उषारानी कर्ण	—	सुरसड, (सीतामढ़ी)	१०० रुपये
१६.	श्री पी० सी० सरकार	—	नरेन्द्रपुर (प० बं०)	१०० रुपये
१७.	एक भक्तिगती महिला	—	इलाहाबाद	१०१० रुपये
१८.	श्रीमती मीरा मित्रा	—	इलाहाबाद	२०१ रुपये
१९.	श्री गोपाल शं० तायवाडे	—	अमरावती (महाराष्ट्र)	१०० रुपये

स्वामी अद्भुतानन्द की जीवन-कथा

चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय
अनुवादक—स्वामी विवेहात्मानन्द

एक भक्त—"महाराज ! सभी तो कहते हैं कि साधना करने से ही सिद्धिलाभ होता है !"

लाटू महाराज—"हाँ ! सिद्धिलाभ होता है, पर समाधिलाभ नहीं होता। शक्ति पाने से साधक को सिद्धि लाभ होता है, ऐश्वर्य पाने पर ऋद्धिलाभ होता है और समाधि में उनकी प्राप्ति होती है। इसीलिए समाधि की बात मुख से नहीं कही जा सकती। उनके शक्ति की बात आभास-संकेत के द्वारा बतायी जा सकती है, उनके ऐश्वर्य की बात भी भाव के द्वारा व्यक्त की जा सकती है, परन्तु वे अपनी शक्ति और ऐश्वर्य के द्वारा समाप्त नहीं हो जाते। उनकी शक्ति अनन्त है, ऐश्वर्य अनन्त है—भला उन्हें कैसे समाप्त किया जा सकता है ? तथापि अनन्त शक्ति और अनन्त ऐश्वर्य भी उन्हें व्यक्त नहीं कर सकते। सब के बीच रह कर भी वे सबके अतीत वस्तु हैं। मान लो तुम्हारे अनेक गुण हैं—उन्हें तुम कार्य के द्वारा प्रकट कर सकते हो; बहुत ऐश्वर्य है—उन्हें तुम प्रदर्शित कर सकते हो या छिपा भी सकते हो; परन्तु इससे तुम्हारा स्वरूप समझ में नहीं आ जाता। तुम्हारा स्वरूप गुण और ऐश्वर्य के द्वारा अभिव्यक्त होकर भी उनमें नहीं है। वैसे ही यहाँ भी है। साधक भगवान् की शक्ति और ऐश्वर्य का आभास पा सकता है परन्तु उन्हें समझने की क्षमता साधक में नहीं है। भगवान् जना दें तभी साधक जान सकता है। वे (ठाकुर) कहा करते थे, 'जैसे भी हो एक बार मालिक के साथ भेंट हो जाने पर उनके ऐश्वर्य की बात जानने की चिन्ता नहीं रहती।' परन्तु मालिक से भेंट तो ऐसे ही नहीं हो जाती। पहले दरबान की खुशामद करनी पड़ती है, फिर अधिकारी को खुश करना पड़ता है, तब कहीं मालिक तक बात पहुँचती है। तब मालिक की यदि इच्छा हुई तो वे अधिकारी की मार्फत तुमसे बात कर सकते हैं, या फिर तुम्हें अपने पास बुलवा सकते हैं अथवा ऐसा भी हो सकता है कि मालिक कृपा करके स्वयं ही तुम्हारे पास आकर तुमसे भेंट कर सकते हैं।" साधना पथ में ठीक ऐसा ही होता है, समझे ? भगवान् की इच्छा हुई तो कृपा करके वे स्वयं ही साधक को दर्शन दे सकते हैं, या फिर इच्छा हुई तो साधक को अपने पास बुलवा सकते हैं (लगता है यहाँ पर वे सालोक्य, सामीप्य अवस्था की ओर संकेत कर रहे हैं), अथवा अगर इच्छा हुई तो वे अपने अधिकारी के द्वारा भी सन्देश भेज सकते हैं (ध्यान में देवी-देवताओं का जो दर्शन होता है, लगता है उसी ओर उनका इंगित है)। यह सब भगवान् की ही इच्छा है। इसमें तुम्हारा प्रयास भला कितना सा है ! दरबान से अधिकारी तक प्रार्थना करना इतना ही न ! तुम्हारी साधना यहीं तक है, वह इसके परे नहीं जा सकती; तत्पश्चात् तुम्हें भगवान की दया पर निर्भर करना होगा। यह काल साधक के लिए बड़े कष्ट का काल है, समझे !"

एक भक्त—"कष्ट का काल ! ऐसा क्यों कहते हैं, महाराज ! अक्सर तो यही देखने में आता है कि अधिकारी द्वारा कोई प्रार्थना मंजूर हो जाने पर मालिक भी उसका कुछ न कुछ जरूर

मंजूर कर देते हैं। बिल्कुल ही अस्वीकार नहीं कर देते।"

लाटू महाराज—"हाँ, सो तो है! पर इतने से ही कार्य की सिद्धि नहीं हो जाती, इसीलिए मन में बड़ी अशान्ति रहती है।"

भक्त—"इतनी साधना करने के बाद भी मन की अशान्ति दूर नहीं होती, यह सब क्या कह रहे हैं, महाराज! यह सुनकर तो मन की आशा मन में ही लुप्त हो जाती है।"

लाटू महाराज—"जान लो कि साधना में सन्तोष आ जाने से ही उन्नति बन्द हो जाती है।"

भक्त—"यह क्या, महाराज! जीवन में शान्ति पाने के लिए ही तो साधना की जाती है। और आप कहते हैं कि शान्ति मिलते ही साधक के जीवन की प्रगति बन्द हो जाती है!"

लाटू महाराज—"हाँ शान्ति पाने के लिए ही साधना की जाती है। (थोड़ी देर सोचकर) पर देखो, जो साधक शान्ति पाकर उसी में भूल जाता है, उसकी आगे उन्नति कैसे होगी? अशान्ति न होने पर आकांक्षा कैसे जगेगी?"

भक्त—"महाराज! शान्ति पाने के बाद की भी कोई अवस्था है क्या?"

लाटू महाराज—"अरे, शान्ति ही क्या साधना की अन्तिम अवस्था है? उसके बाद और भी अनेक अवस्थाएँ हैं; पर हाँ, उन अवस्थाओं की उपलब्धि के लिए पहले शान्ति की आवश्यकता है। यह शान्ति कैसी होती है जानते हो?— अपने आप में परिपूर्णता का बोध। बाहर के किसी दु:ख-कष्ट से मन का भाव विचलित नहीं होगा, ऐसी जो अवस्था है उसी को शान्ति कहते हैं। भीतर-बाहर इसी शान्ति से भरपूर हुए बिना साधन पथ का द्वार नहीं खुलता। फिर ज्यों ही साधना पथ का द्वार खुल जाता है, त्यों ही अशान्ति आरम्भ हो जाती है। वह एक अलग प्रकार की अशान्ति है जो मैं तुम्हें समझा नहीं सकता। वहाँ पर साधक चुपचाप बैठ भी नहीं सकता और पुरुषार्थपूर्वक आगे भी नहीं बढ़ सकता।"

भक्त—"आपकी बात तो मैं कुछ समझ ही नहीं पाता हूँ, महाराज! थोड़ा सहज करके बोलिए।

लाटू महाराज—"यह सब समझने के लिए थोड़ी साधना करने की आवश्यकता है। तपस्या किये बिना यह सब समझा नहीं जा सकता। तुम लोगों की तपस्या कम है, इसलिए हजार बार कह-कर भी तुम लोगों को वे सब बातें समझा नहीं सकूँगा।"

बलराम मन्दिर में हुए इस वार्तालाप से हम इतना ही समझ सकते हैं कि समाधि साधना-सापेक्ष होकर भी साधनासापेक्ष नहीं है।

इसीलिए ऐसा प्रतीत होता है कि काशीपुर के उद्यान में समाधि लगने के बाद पुनः समाधिस्थ होने के लिए लाटू महाराज ने जो कठोर तपस्या की थी, उसकी आवश्यकता थी। (१८८६ से १८९१ ई० के मध्यवर्ती काल के दौरान) उन दिनों उन्होंने जो तपस्या की थी उसके कुछ विवरण हमें प्राप्त हुए हैं। हमने शशी महाराज के मुख से सुना है—"लाटू को पुकार कर खिलाना पड़ता था, अन्यथा उसे खाने का होश नहीं रहता था। ऐसा कितनी ही बार हुआ है कि हम सब लोगों का भोजन हो चुका है, परन्तु पुकारने पर भी कोई उत्तर न मिलने पर कमरे में ही उसका भोजन पहुँचा दिया गया है। दोपहर बीता, सन्ध्या बीत गयी, रात को उसे पुकारने गया हूँ, देखता हूँ—लाटू वैसे ही चादर ताने पड़ा है और दोपहर का भोजन भी यथावत् पड़ा है। बहुत-बहुत टेर-पुकार, हल्ला-गुल्ला करके तब कहीं उसे खिलाया जाता था।"

शरत् महाराज ने श्रीयुत् महेन्द्रनाथ दत्त से कहा था—"लाटू रात में सोता नहीं है। रात के प्रारम्भ में वह नींद का बहाना करते हुए खर्राटे भरता है और जप की माला छिपा कर रख देता है। सब के सो जाने पर वह उठता है और माला लेकर जप करने बैठ जाता है। एक दिन खुट-खुट

की आवाज सुनकर मैंने सोचा कि कमरे में चूहा घुस आया है, ज्यों ही मैंने जरा धुड़का कि आवाज बन्द हो गयी, पर थोड़ी देर बाद फिर वही खुट-खुट की ध्वनि सुनने में आयी। फिर धुड़का तो फिर आवाज बन्द हो गयी। मन में सन्देह हुआ, अतः अगले दिन मैं इन्तजार में रहा और ज्यों ही आवाज हुई कि मैंने प्रकाश जलाकर देखा कि लाटू माला जप रहा है। यह सब देखकर मैंने कहा, 'तो ऐसी बात है! हम लोगों को धोखा देगा! हम लोग सोकर रात बिताएँगे और तू जप करके मजा उड़ाएगा। ऐसा नहीं चलेगा।"

उपर्युक्त दोनों घटनाएँ बराहनगर मठ में हुई थीं और आलमबाजार मठ में भी उनका ठीक वही भाव था। लाटू महाराज के वहाँ के जीवन के बारे में सुधीर महाराज (शुद्धानन्द) ने जो बातें बतायीं उनमें भी इसी भाव की प्रगाढ़ता दीख पड़ती है—"उस दिन हम लोग पहली बार आलमबाजार मठ गये थे। देखा कि एक व्यक्ति सीधे तने हुए खाट पर पड़े हैं और दूसरे दो लोग उन्हें पकड़कर खींच-तान कर रहे हैं। हम लोग पहली बार गये थे इसीलिए उनका वैसा आचरण देखकर विस्मित हो रहे थे। परन्तु उस समय इसका कारण क्या है यह नहीं पूछा। बहुत दिनों के बाद जब मैंने उनके इस प्रकार सोये रहने का कारण और उन लोगों के खींचतान करने का उद्देश्य पूछा तो उन्होंने कहा था, 'सोचा था कि अब खाऊँगा नहीं, अन्न त्याग दूँगा—इसीलिए पड़ा था।' "

इन तीन घटनाओं में उनकी कठोर तपस्या की मूर्त झलक मिल जाती है। उन्होंने इसी भाँति कम से कम छह वर्षों तक आहार-निद्रा भूलकर साधना की थी। केवल आहार-निद्रा के प्रति अनासक्ति ने ही उनकी साधना को तीव्रतर नहीं किया था, अपितु उस काल में वे प्रतिक्षण जप-ध्यान में तन्मय रहा करते थे। श्रीयुत महेन्द्रनाथ दत्त कहते हैं—"उन दिनों लाटू का ऐसा भाव था कि या तो सर्वस्व की प्राप्ति करूँगा, नहीं तो सर्वस्व खो दूँगा—पर अलग में वस्तुतः न रहूँगा। मानो ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा करके ही लाटू महाराज साधना में बैठे थे। उस समय गुरुभाइयों के बीच आपस में एक तरह के होड़ का भाव था।"

परवर्ती काल में लाटू महाराज ने भी हम लोगों को बताया था—"एक बार मेरे मन में इच्छा हुई कि मैं भी विवेकानन्द-भाई के समान बड़ा होऊँगा; परन्तु उस समय तो मैं समझ नहीं सका कि विवेकानन्द-भाई मुझसे कितना आगे निकल गया है! मैं तो जी-जान से लग गया, परन्तु क्या देखा, जानते हो! मैं जितना ही उसके पास पहुँचता हूँ, वह उतना ही और भी आगे निकल जाता है। एक जगह पहुँचकर मैंने सोचा कि बस अब मैंने उसे पकड़ ही लिया। परन्तु वहाँ भी देखने में आया कि नहीं, विवेकानन्द-भाई अभी भी आगे ही बढ़ता जा रहा है। मेरे प्रयास से क्या होगा? यह तो प्रयास का राज्य नहीं है; यहाँ तो उनकी कृपा का व्यापार चल रहा है। मैं तो साधना पथ पर दुगने वेग से जा नहीं सकूँगा, और विवेकानन्द-भाई भी चलते-चलते ठहर नहीं जाएगा; तो फिर हम लोगों में बराबरी भला कैसे हो सकती है?"

यह बात सुनकर एक भक्त ने कहा—"परन्तु, महाराज! साधना के अन्त में तो आप दोनों बराबर हो गये।"

लाटू महाराज—"अरे! ऐसा भला किस प्रकार हो सकता है?'

भक्त—"क्यों महाराज! साधना पथ की एक सीमा तो होगी, जहाँ पहुँच कर सब एक हो जाते होंगे!"

लाटू महाराज—"धत् पागल! साधना का भी कहीं अन्त है? या शक्ति का कहीं शेष है? या आत्मा की भी कहीं इति है? इन तीनों की सीमा कहीं भी नहीं है। जहाँ कोई अन्त ही नहीं है वहाँ कौन यह कहने का साहस कर सकता है कि 'ब्रह्म का स्वरूप ऐसा है'।"

श्रीरामकृष्ण माँ सारदा देवी एवं स्वामी विवेकानन्द का जन्मोत्सव

(१) रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद

रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद में ८ से १२ मार्च तक भगवान श्रीरामकृष्ण, जगज्जननी माँ सारदा देवी एवं जगद् गुरु स्वामी विवेकानन्द की जन्मतिथियों के उपलक्ष में एक सप्ताह तक जन-महोत्सव का भव्य आयोजन किया गया। ८ से १० मार्च तक उपर्युक्त विभूतियों के जीवन और सन्देश पर रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म० प्र०) के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज की अध्यक्षता में डॉ० केदार नाथ लाभ एवं रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर के मनोविज्ञान विभाग के रीडर डॉ० ओमप्रकाश वर्मा ने विशद एवं गंभीर वक्तृताएँ दीं। अध्यक्ष सहित विद्वान वक्ताओं ने श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा एवं स्वामी विवेकानन्द के जीवन और सन्देश के विभिन्न आयामों पर प्रकाश डालते हुए वर्तमान समय में उनकी प्रासंगिकता पर प्रेरक प्रकाश विकीर्ण किये।

११ और १२ मार्च के प्रवचन विषय थे—गीता का जीवन दर्शन और श्रीमद्भागवत तत्व चिन्तन। स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने गीता के जीवन दर्शन पर दोनों दिन सात्विक मीमांसा प्रस्तुत करते हुए कहा कि आज के मानव को अपने अभ्युत्थान के लिए गीता के जीवन दर्शन को अपनाना चाहिए। डॉ० ओम प्रकाश वर्मा ने श्रीमद्भागवत के दिव्य और प्रेमपूर्ण सन्देश की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की। इलाहाबाद उच्च न्यायालय के माननीय न्यायमूर्ति श्री प्रेमशंकर गुप्ता एवं न्यायमूर्ति श्री गिरिधर मालवीय ने दोनों दिनों की जन सभाओं की क्रमशः अध्यक्षता की।

रामकृष्ण मठ के अध्यक्ष स्वामी निखिलानन्द जी महाराज ने अतिथियों का स्वागत करते हुए मठ का प्रतिवेदन प्रस्तुत किया और प्रो० जी० एन० राय चौधरी तथा न्यायमूर्ति पालोक बसु ने धन्यवाद ज्ञापन किया। आश्रम के ब्रह्मचारी अनाम चैतन्य द्वारा नित्य मांगलिक और श्री कृष्णानन्द शर्मा द्वारा समापन गीत प्रस्तुत किये गये।

(२) श्रीरामकृष्ण अद्भुतानन्द आश्रम, छपरा

श्री रामकृष्ण अद्भुतानन्द आश्रम, छपरा (बिहार) में भगवान श्री रामकृष्ण देव, परम पावनी माँ सारदा देवी, स्वामी विवेकानन्द और स्वामी अद्भुतानन्द की जन्मतिथियों के उपलक्ष्य में १७ से १९ मार्च तक चार जन-सभाओं का आयोजन सोल्लास किया गया।

१७ मार्च को दो जन सभाएँ हुईं। प्रथम जनसभा की अध्यक्षता की स्थानीय विधायक श्री उदित राय ने। रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष स्वामी निखिलात्मानन्द जी महाराज ने मुख्य वक्ता के रूप में स्वामी अद्भुतानन्द के जीवन और सन्देश पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए कहा कि छपरा के एक निम्न वर्ग के बालक ने श्री रामकृष्ण के सम्पर्क में आकर ब्रह्मोपलब्धि की। श्री उदित राय ने अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए कहा कि स्वामी अद्भुतानन्द का जीवन यह सिद्ध करता है कि साधारण वर्ग के व्यक्ति को भी यदि अनुकूल वातावरण मिले तो वह अपने भीतर की महान शक्ति को प्रकट कर सकता है। उन्होंने आश्रम को अपना सहयोग सदैव देते रहने की घोषणा की और ८०० रु० का अनुदान भी दिया। आश्रम की ओर से श्री उदित राय, विधायक के हाथों एक सौ दरिद्र नारायणों के बीच नवीन वस्त्र वितरण किया गया। श्री राम प्रताप सिंह ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

अन्य तीन सभाओं के विषय थे—श्रीराम और श्री रामकृष्ण, जगन्माता सीता और जगज्जननी श्री सारदा देवी तथा महावीर हनुमान और स्वामी विवेकानन्द। स्वामी निखिलात्मानन्द जी ने तीनों सभाओं में इन विषयों पर बड़ा ही गवेषणापूर्ण किन्तु ललित ढंग से प्रकाश डालकर श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर दिया। तीनों सभाओं की अध्यक्षता क्रमशः श्री हरिशंकर प्रसाद, अधिवक्ता, श्री कौशल किशोर तिवारी, अधिवक्ता और श्री विवेकानन्द झा न्यायाधीश ने की तथा धन्यवाद ज्ञापन क्रमशः प्रो० राधाकृष्ण प्रसाद, डॉ० उषा वर्मा एवं श्री राम किशोर प्रसाद श्रीवास्तव ने किया। आश्रम के सचिव, डॉ० केदार नाथ लाभ ने अतिथियों का स्वागत करते हुए आश्रम का प्रतिवेदन प्रस्तुत किया और डॉ० आरती श्रीवास्तव ने मांगलिक एवं समापन गीत अर्पित किये।

बैद्यनाथ च्यवनप्राश

अब पोलीजार मे उपलब्ध

नेत्र

कफ खांसी नाशक

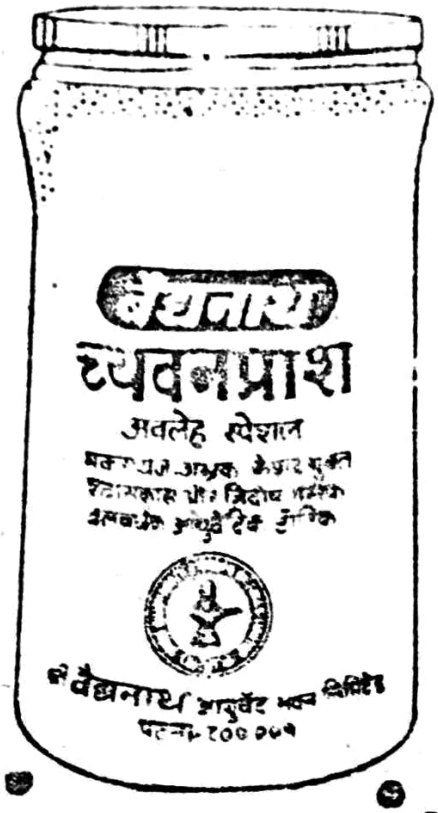

यौवन

दिमागी ताजगी

विकास

बलदायक

आदर्श आयुर्वेदिक पारिवारिक टानिक

कहीं आपके डिब्बे में "मोपेड" तो नहीं ?

प्रत्येक एक किलो स्पेशल और साधारण एवं ७०० ग्राम स्पेशल च्यवनप्राश के डिब्बे में इनामी कूपन प्राप्त कर "मोपेड" एवं ३०५ अन्य पुरस्कार प्राप्त करने का सुनहरा अवसर ।

बैद्यनाथ ७०० से अधिक दवाएं पांच आधुनिक कारखानों में तैयार करता है

श्री **बैद्यनाथ** आयुर्वेद भवन लिमिटेड

बैद्यनाथ भवन रोड, पटना-१

डाक पंजीयित संख्या – सी. एच. पी. – १४–८३

स्वामी विवेकानन्दकृत सम्पूर्ण साहित्य

पुस्तक	मूल्य
योग	
ज्ञानयोग	१४.००
राजयोग (पातञ्जल योगसूत्र, सूत्रार्थ और व्याख्यासहित)	९.००
प्रेमयोग	५.००
कर्मयोग	६.००
भक्तियोग	४.००
ज्ञानयोग पर प्रवचन	२.००
सरल राजयोग	२.००
धर्म तथा अध्यात्म	
धर्मविज्ञान	५.००
धर्मतत्त्व	४.५०
धर्मरहस्य	३.००
हिन्दूधर्म	६.००
हिन्दूधर्म के पक्ष में	२.००
शिकागो वक्तृता	१.५०
नारदभक्तिसूत्र एवं भक्तिविषयक प्रवचन और आख्यान	३.००
भगवान श्रीकृष्ण और भगवद्गीता	४.५०
भगवान बुद्ध तथा उनका सन्देश	२.००
देववाणी (उच्च आध्यात्मिक उपदेश)	८.००
कवितावली (आध्यात्मिक अनुभूतिमय काव्य)	४.००
वेदान्त	४.२५
व्यावहारिक जीवन में वेदान्त	३.५०
आत्मतत्त्व	३.५०
आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग	५.००
मरणोत्तर जीवन	१.५०
जीवनी	
महापुरुषों की जीवनगाथाएँ	
मेरे गुरुदेव	६.००
ईशदूत ईसा	२.५०
पवहारी बाबा	१.००
	२.००

पुस्तक	मूल्य
सम्भाषणात्मक	
विवेकानन्दजी के संग में	१३.००
स्वामी विवेकानन्दजी से वार्तालाप	५.००
विवेकानन्दजी के संस्मरण	५.००
विवेकानन्दजी के सान्निध्य में	३.००
विविध	
विवेकानन्द साहित्य संचयन (महत्त्वपूर्ण व्याख्यान, लेख, पत्र काव्य आदि का प्रातिनिधिक संचयन)	२५.००
" (सस्ता संस्करण)	१०.००
पत्रावली — (धर्म, दर्शन, शिक्षा, समाज राष्ट्रोन्नति इत्यादि सम्बन्धी स्फूर्तिदायी पत्र)	२१.००
भारतीय व्याख्यान	२०.००
भारत का ऐतिहासिक क्रमविकास एवं अन्य प्रबन्ध	४.००
हमारा भारत	१.५०
वर्तमान भारत	२.००
नया भारत गढ़ो	२.५०
भारतीय नारी	४.००
जाति, संस्कृति और समाजवाद	४.००
शिक्षा	५.५०
सार्वलौकिक नीति तथा सदाचार	३.५०
मन की शक्तियाँ तथा जीवन-गठन की साधनाएँ	१.५०
विविध प्रसंग	५.००
चिन्तनीय बातें	४.००
परिव्राजक (मेरी भ्रमणकहानी)	४.५०
प्राच्य और पाश्चात्य	४.५०
युवकों के प्रति	६.००
विवेकानन्द– राष्ट्र को आह्वान (पॉकेट साईज)	१.२५
शक्तिदायी विचार	
सूक्तियाँ एवं सुभाषित (,,)	१.००
मेरी समर-नीति (,,)	१.००
मेरा जीवन तथा ध्येय (,,)	१.००
(,,)	१.००

प्रकाशक : रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर–४४००१२

श्रीमती गंगा देवी, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार) द्वारा प्रकाशित एवं
श्रीकांत लाभ द्वारा जनता प्रेस, नया टोला, पटना – ४ में मुद्रित।